श्री
गीतामृततरंगिणी ।
रघुनाथ सादकृत ।

श्रीः।

गीतामृततरंगिणी.

श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मज पंडित
रघुनाथप्रसादजीकृत।

श्रीमद्भगवद्गीताकी भाषाटीका.

उसीको
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीने,
अपने "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापेखानेमें
छापकर प्रकाशित किया।

संवत् १९८४. शकाब्द १८४९.

कल्याण-मुंबई.

भूमिका।

हम बडे आनंदसे सर्व सद्धर्मावलंबियोंपर विदित करते हैं कि, यह "भगवद्गीता" ग्रन्थ सर्व लोगोंको धर्मग्रंथ शिरोमणिरूपसे मान्य है प्रायः समस्त सनातनधर्माभिमानी विज्ञलोगोंको पाठ आता है.साधारणसे भी साधारण क्यों न हो एक आध श्लोकका तो मुखसे उच्चारण करता ही है. ऐसा इस ग्रंथका माहात्म्य है. यह क्यों नहीं हो कि, जो साक्षात् पद्मनाभ भगवान् श्रीकृष्णचंद्र- जीने परम भक्त अर्जुनको श्रीमुखसे निरूपण करा है. जिसमें एकएक अक्षर तत्त्वज्ञानसे भरा हुआ है.ऐसा यह ग्रंथ है तो इसकी इतनी महिमा होना क्या आश्चर्य है? यह ऐसी गीता सर्व उपनि- षदोंके साररूप है श्रीकृष्णजीने इसको निकाली है, अर्जुनजीने इसका प्रथम आस्वाद लिया है. इसके भोक्ता बुद्धिमान् लोग है. यह परम पवित्र और चतुर्विध पुरुषार्थको सिद्ध करता है.

ऐसा यह तत्त्वज्ञान महाभारतके भीष्मपर्वमें श्रीव्यासमुनिने ग्रंथरूपसे निरूपण किया है, यह ग्रंथ संस्कृतभाषामें रहनेसे इसका अर्थ समझनेमें साधारण लोगोंको पराधीन करता था. यह न्यू- नता देखकर मैंने इस ग्रंथकी "गीतामृततरंगिणी" नामक भाषा- टीका निर्माण करी. इसको प्रथम आवृत्तिमें अन्यत्र छपवाया था वह आवृत्ति हाथोंहाथ बिकगई. इस वास्ते अब इस भाषाटीकाका रजिस्टरी हक्क सदाहीके लिये यथोचित पारितोषिक पाकर बडे उत्साहसे श्रीमान् सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजी "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानाके आधपातिका निवेदन किया है. उन सेठ श्रीखेमराज

श्रीकृष्णदासजीने यह ग्रंथ परम उत्साहसे अपने "श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखानेमें सुन्दर मनोहर अक्षरोंमें पुष्ट चिकने कागजपर छापके प्रसिद्ध किया है यह उक्त सेठजीका परम उपकार है.

अब हम आशा रखते हैं कि, इस अलभ्य मनोहर भाषाटीका समेत पुस्तकको संग्रह करके भगवदुक्त तत्त्वज्ञानको पायकर परम आनंदका विद्वान् अनुभव करेंगे.

सुकुल सीतारामात्मज-

पण्डित रघुनाथप्रसाद.

युद्ध प्रसंग
अर्जुन
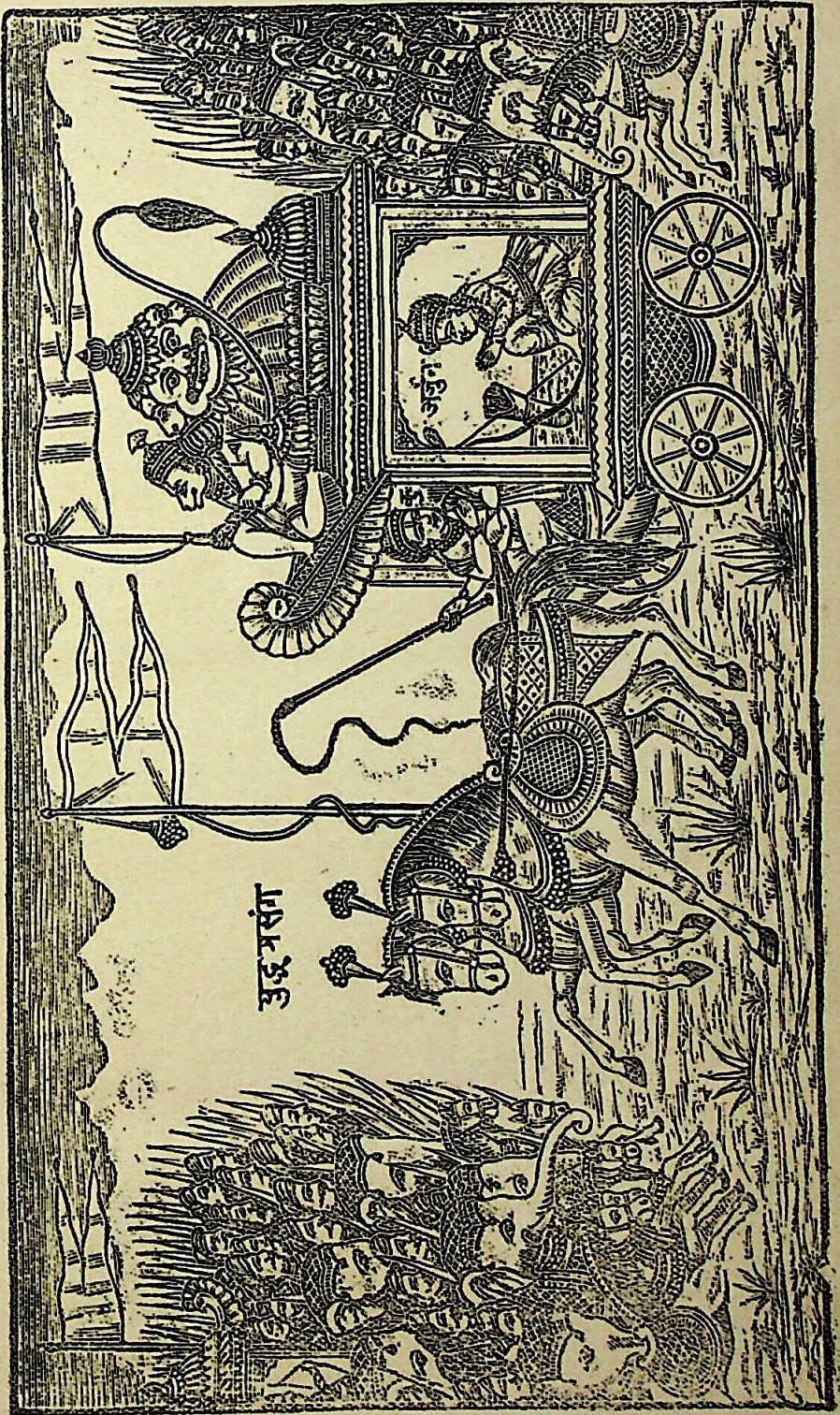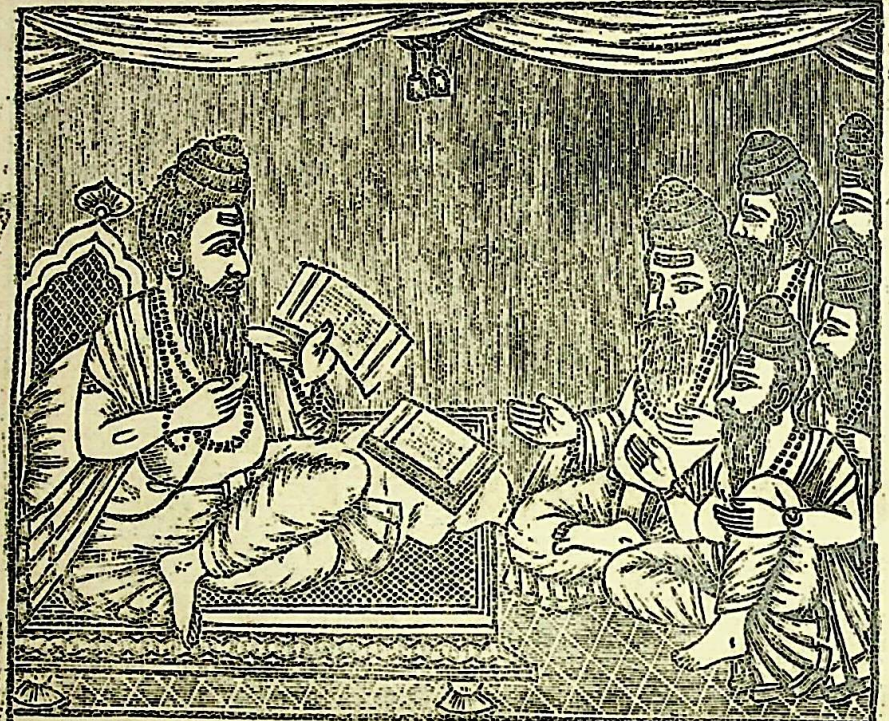
अथ श्रीमद्भगवद्गीतार्थवाङ्मयी मूर्तिः ।

वक्त्राणि पंच जानीहि पंचाध्यायाननुक्रमात ।
दशाध्याया भुजाश्चैकमुदरं द्वौ पदांबुजे ॥ १ ॥

एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयी मूर्तिरैश्वरी ।
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ॥ २ ॥

इस मूर्तिमें अंक डालनेका मतलब यह है कि जिस जिस अध्यायके जो जो अंग हैं. उन उन अंगोंमें उन उन अध्यायोंके अंक लिखे हैं.

तपलोक
जनलोक
महलोक
इन्द्रादि
आकाश
स्वर्ग
अतल
वितल
सुतल
महातल
रसातल
तलातल
पाताल
अर्जुन

॥ श्रीः ॥

अथ श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यम् ।

भाषाटीकासमेतम् ।

ऋषिरुवाच ।

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद ।
पुराणमुनिना प्रोक्तं व्यासेन श्रुतिनोदितम् ॥ १ ॥

श्रीजयति ॥ नत्वा रामानुजं कृष्णं गीताचार्यं जगद्गुरुम् ।
गीतामाहात्म्यसद्व्याख्यां कुर्वे प्राकृतभाषया ॥ १ ॥

अनेकप्रकारकी कथा सुनते सुनते शौनकऋषि सूतजीसे प्रश्न करते भये कि हे सूत ! जो श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य श्रीव्यासजीने कहा है सो यथावत् मेरेको कहो ॥ १ ॥

सूत उवाच ॥ पृष्टं वै भवता यत्तन्महद्गोप्यं पुरातनम् । न केन शक्यते वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

शौनकका प्रश्न सुनके सूतजी बोले कि, जो तुमने मेरेसे पूछा यह अतिगोप्य प्राचीन है. अतिउत्तम यह गीताका माहात्म्य किसी करके भी कहनेमें नहीं आता है ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् कचित्कौन्तेय एव च ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रकारसे तो कृष्ण ही जानते हैं और किंचित् अर्जुन तथा व्यासजी, शुकदेवजी, याज्ञवल्क्य अथवा जनक जानते हैं ॥ ३ ॥

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लोके संकीर्त्तयंति च ।
तस्मात्किंचिद्वदाम्यद्य व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥ ४ ॥

और जन कानोंसे सुनके लोकमें वर्णन भी करते हैं, परंतु जानते नहीं हैं इससे जैसा मैंने श्रीव्यासजीके मुखारविंदसे सुना है वैसा कुछ थोडा कहूँगा ॥ ४ ॥

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥५॥

सर्व उपनिषदें तो गऊरूप होती भई; दुहनेवाले श्रीकृष्ण और बछरारूपी अर्जुन प्रथम पान करते भये. पीछे यह गीतारूप दूध अतिमिष्ट लोकमें प्रवृत्त करते भये ॥ ५ ॥

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
सर्वलोकोपकारार्थं तस्मै कृष्णाय ते नमः ॥ ६ ॥

जो भगवान् प्रथम अर्जुनका सारथिपना करते करते सर्वलोकोंके उपकारके वास्ते अर्जुनको गीतारूप अमृत देते भये ऐसे आप श्रीकृष्णको मेरा नमस्कार है ॥ ६ ॥

संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो जनः ।
गीतानावं समारुह्य पारं यातु सुखेन सः ॥ ७ ॥

जो संसारघोरसागर तरना चाहता हो; वह गीतारूपी नावपर बैठके सुखसे पार पाता है ॥ ७ ॥

गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥८॥

जिसने गीतासंबंधी ज्ञान सदा अभ्यासयोगसे नहीं सुना है और वह मूर्ख मोक्ष चाहता है तो वह बालकोंकरके उपहासको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

ये शृण्वंति पठंत्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवा एव न संशयः ॥ ९ ॥

जो रातदिन गीता पढते और सुनते हैं वे मनुष्य नहीं, देवता ही हैं ऐसे जानना, यहां संशय नहीं ॥ ९ ॥

गीताज्ञानेन संबोध्य कृष्णः प्राह तमर्जुनम् ।
अष्टादशपदस्थानं गीताध्याये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्णभगवान् अर्जुनको गीताके ज्ञानसे प्रबोधिके बोले कि, इस गीताके एकएक अध्यायमें अष्टादशपद जो विष्णु उनका स्थान जो परमपद यह स्थापित किया है ॥ १० ॥

मोक्षस्थानं परं पार्थ सगुणं वाथ निर्गुणम् ।
सोपानाष्टादशैरेवं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! सगुण अथवा निर्गुण स्वइच्छाप्रमाण मोक्षस्थानपर अठारह अध्यायरूप सोपानों करके परब्रह्मको प्राप्त होता है॥ ११॥

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीतांभसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ १२ ॥

जो दिनदिनप्रति जलस्नान है सो शरीरमलका नाशक है और इस गीतारूप जलका स्नान संसारदुःखरूप मलका नाशक है ॥ १२॥

गीताशास्त्रस्य जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
परस्मान्न श्रुतं ज्ञानं नैव श्रद्धा न भावना ॥ १३ ॥
स एव मानुषे लोके पुरुषो विड्वराहकः ।
यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः॥ १४॥

जो गीताशास्त्रका पढना पढाना नहीं जानता है, न दूसरेसे सुना, न जिसके श्रद्धा है और न भावना है वह पुरुष इस लोकमें ग्रामसूकरके समान है; क्योंकि जिससे वह गीता नहीं जानता है इसीसे उसके सिवाय दूसरा अधम नहीं है ॥ १३ ॥ १४ ॥

धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनताम् ।
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १५ ॥

जो गीतार्थको नहीं जानता है उसके मनुष्यदेहको, ज्ञानको और कुलीनताको धिक्कार है और उससे अधिक कोई अधम नहीं है॥ १५

धिक्सुरूपं शुभं शीलं विभवं सद्गृहाश्रमम् ।

गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १६॥

जो गीताशास्त्रको नहीं जानता है उसके सुंदर रूपको, सुंदर शीलको, विभवको और श्रेष्ठ गृहाश्रमको धिक्कार है और उससे अधिक अधम दूसरा नहीं है ॥ १६ ॥

धिक्प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महात्मताम् ।
गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति तत्सर्वं निष्फलं जगुः ॥ १७॥

जिसकी गीताशास्त्रमें प्रीति नहीं उसकी हिम्मत, प्रतिष्ठा, पूजा, मान और महात्मापनेको धिक्कार है और उसका सर्व निष्फल है १७

धिक्तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं चेष्टां तपो यशः ।
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ॥ १८ ॥

जिसके गीतार्थका पठन नहीं है उसके ज्ञानको तथा आचार, व्रत, चेष्टा, तप और यशको धिक्कार है उससे अधिक कोई जन अधम नहीं है ॥ १८ ॥

गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसंज्ञकम् ।
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदांतगर्हितम् ॥ १९ ॥

जो ज्ञान गीताका गाया नहीं है उस ज्ञानको आसुरी ज्ञान जानना वह व्यर्थ और धर्मरहित तथा वेदवेदांतकरके निंदित है ॥ १९ ॥

यस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।
सर्वशास्त्रमयीगीता तस्माद्गीता विशिष्यते ॥ २०॥

जिसवास्ते कि, गीता धर्ममयी और सर्वज्ञानोंकी प्रवृत्त करनेवाली है और सर्वशास्त्रमयी है; ऐसा कहा उससे गीता सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

योऽधीते सततं गीतां दिवा रात्रौ यथार्थतः ।
स्वपन्गच्छन्वदंस्तिष्ठञ्छाश्वतं मोक्षमाप्नुयात् ॥ २१

जो निरंतर रातदिन अर्थसहित गीताको सोते, चलते, बोलते खडे भी पढते रहते हैं वे सनातन मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

शालग्रामशिलाग्रे तु देवागारे शिवालये ।
तीर्थे नद्यां पठेद्यस्तु वैकुंठं याति निश्चितम् ॥ २२॥

शालग्रामके संमुख, देवमंदिरमें, शिवालयमें, तीर्थमें और नदी-किनारे जो गीताको पढता है सो निश्चय वैकुंठको जाता है ॥ २२ ॥

देवकीनंदनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानैश्च यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ २३ ॥

जैसे श्रीदेवकीनंदन कृष्ण गीतापाठसे संतुष्ट होते हैं वैसे वेदपाठ, दान, यज्ञ, तीर्थ और व्रतादिकोंसे नहीं संतुष्ट होते हैं ॥ २३ ॥

गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ।
तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ॥ २४ ॥

जिसने भक्ति भावपूर्वक चित्त लगाय गीताका अध्ययन किया वह सर्व वेद, शास्त्र और पुराण भी पढचुका ॥ २४ ॥

योगिस्थाने सिद्धपीठे शिष्टाग्रे सत्सभासु च ।
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम् ॥२५॥

योगीके स्थानमें, विंध्येश्वरी इत्यादि सिद्धपीठमें, श्रेष्ठपुरुषके संमुख, साधुसभामें, यज्ञमें और विष्णुभक्तके संमुख पाठ करनेसे जन मोक्ष पाता है ॥ २५ ॥

गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिनेदिने ।
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥ २६॥

जो दिन दिन प्रति गीताका पाठ और श्रवण करता है वह सब अग्निष्टोमादिक और अश्वमेधादिक दक्षिणासहित यज्ञ करचुका २६

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयेच्च स्वयं पुमान् ।

श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ २७ ॥

जो गीताका अर्थ सुने और आप कहे दूसरोंको श्रवण करावे वह परमपदको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

गीतायाः पुस्तकं नित्यं योऽर्चयत्येव सादरम् ।
विधिना भक्तिभावेन तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २८ ॥

जो आदरपूर्वक नित्य गीताके पुस्तकको विधिपूर्वक भक्ति-भाव संयुक्त पूजता है उसके पुण्यका फल सुनो ॥ २८ ॥

सकला चोर्वरा तेन दत्ता यज्ञे भवेत्किल ।
व्रतानि सर्वतीर्थानि दानानि सुबहून्यपि ॥ २९ ॥

वह गीताके पूजनेवाला यज्ञमें सर्व पृथ्वी दान दे चुका; तथा सर्वव्रत सर्वतीर्थ और बहुतसे दान भी दे चुका ॥ २९ ॥

भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र नो प्रविशंति वै ।
अभिचारोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत् ॥ ३० ॥

जिस घरमें गीताका पूजन होता है वहां भूत, प्रेत, पिशाचा-दिक और दूसरेके किये मंत्रयंत्रादिक अभिचारज दुःखभी नहीं प्रवेश कर सकते हैं ॥ ३० ॥

नोपसर्पन्ति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ।
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिभयं तथा ॥ ३१ ॥

जिस घरमें गीताका पूजन है वहां दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापोंकी पीडा और रोगकृतपीडा नहीं होती है ॥ ३१ ॥

न शापं नैव पापं च दुर्गतिं न च किंचन ।
देहेऽरयः षडेते वै न बाधंते कदाचन ॥ ३२ ॥

वहां कोईका शाप और पाप और दुर्गति कभी नहीं होती है तथा देहमें रहे जो पांच ज्ञानेंद्रिय, एक मन ऐसे छह शत्रु भी पीडा नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी।
जायते सततं तत्र यत्र गीताभिनंदनम् ॥ ३३ ॥

जहाँ गीताके अर्थका निरंतर विनोद होता है तहाँ भगवान्में अति उत्तम अखंड भक्ति उत्पन्न होती है ॥ ३३ ॥

प्रारब्धं भुंजमानोऽपि गीताभ्यासे सदा रतः।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपबध्यते ॥ ३४ ॥

जो सर्वकाल गीताके ही अभ्यासमें निरत है वह प्रारब्धवशसे संसार भी भोगता है तो भी वह मुक्त और सुखी है, तथा कर्मसे भी बंधनेका नहीं है ॥ ३४ ॥

महापापादिपापानि गीताऽध्यायी करोति चेत्।
न किंचित्स्पृश्यते तस्य नलिनीदलमंभसा ॥ ३५ ॥

जो नित्य गीताका श्रवण,पठन, मनन करता हो और वह दैव-योगसे भूलमें ब्रह्महत्यादिक महापाप भी करे तो भी जलकरके कमल पत्रवत् लिप्त नहीं होता है ॥ ३५ ॥

स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदिवाऽशुचिः।
विभूतिं विश्वरूपञ्च संस्मरन्सर्वदा शुचिः ॥ ३६ ॥

स्नान किये होय अथवा न किये होय, पवित्र होय अथवा अप-वित्र होय विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन अध्यायको पढता हुआ सदा पवित्र होता है ॥ ३६ ॥

अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादि कृतं च यत्।
अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा ॥ ३७ ॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिंद्रियैर्जनितं च यत्।
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥ ३८ ॥

जो अनाचारसे और जो निंदित शब्द बोलनेसे, जो अभक्ष्यभक्षणसे, जो न छूने योग्यके छूनेसे पाप भये हों; तथा जो जान और अजानमें नित्य पाप भये हों और जो इंद्रियोंसे पाप भये हों वे सब गीतापाठसे तत्काल नष्ट होते हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिग्राही च सर्वशः ।
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन ॥ ३९ ॥

जो सर्वत्र भोजन करता हो सर्वत्र प्रतिग्रह लेता हो वह भी पापों करके गीतापाठसे लिप्त नहीं होता है ॥ ३९ ॥

रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रगृह्यातिविधानतः ।
गीतापाठेन चैकेन शुद्धः स्फटिकवत्सदा ॥ ४० ॥

विधिहीन रत्नपूरीत पृथिवीका दान भी लेकर एक गीतापाठसे शुद्धस्फटिकमणिवत् निष्पाप होता है ॥ ४० ॥

यस्यांतःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा ।
सर्वाग्निकः सदाजापी क्रियावान्स च पंडितः ॥ ४१ ॥

जिसका अंतःकरण सदा गीतामें रमता हो वह सर्व अग्निहोत्री, सदा जप करनेवाला, क्रियावान् और पंडित है ॥ ४१ ॥

दर्शनीयः स धनवान्स योगी ज्ञानवानपि ।
स एव याज्ञिको ध्यानी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥ ४२ ॥

वही दर्शनयोग्य है, वही धनवान्, वही योगी ज्ञानवान्, वही याज्ञिक, वही ध्यानी और वही सर्ववेदोंके अर्थको देखनेवाला है ॥ ४२ ॥

गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यं पाठे प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥ ४३ ॥

गीताका पुस्तक जहां नित्य पाठमें प्रवर्त हो वहां पृथिवीभरके सर्व प्रयागादितीर्थ सदा रहते हैं ॥ ४३ ॥

निवसंति सदा गेहे देहदेश सदैव हि
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ॥ ४४ ॥
और यहां घरमें और देहमें भी सर्व देव, ऋषि, योगी और पन्नग भी सदा वसते हैं ॥ ४४ ॥

गोपालबालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः।
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥ ४५ ॥
जहां गीता प्रवृत्त होती है तहां नारद ध्रुव और सर्व पार्षदसहित गोपाल बालकृष्ण शीघ्र ही सहाय होते हैं ॥ ४५ ॥

यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा।
तत्राहं निश्चितं पार्थ निवसामि सदैव हि ॥ ४६ ॥
श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि, हे पार्थ ! जहां नित्य गीताका विचार होता है वहां मैं निश्चय सर्वदा रहता हूँ ॥ ४६ ॥

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्यग्र्यं गीता मे ज्ञानमक्षयम्॥ ४७ ॥
हे अर्जुन ! गीता मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम सार है, गीता मेरा अतिअग्रज्ञान और अक्षय ज्ञान भी है ॥ ४७ ॥

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं गृहम्।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥४८॥
गीता मेरा उत्तम स्थान है और गीता मेरा उत्तम गृह है गीताके ज्ञानको धारण किये भये तीनों लोकोंको पालता हूँ ॥ ४८ ॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
अर्द्धमात्राक्षरा नित्या स्वनिर्वाच्यपदात्मिका ॥४९॥
गीता मेरी उत्तम विद्या है, गीता ब्रह्मरूप है, इसमें संशय नहीं

अर्द्धमात्रा, नाश रहित, सनातन, अनिर्वाच्यपदरूप ऐसी परावाणीरूप मेरी यह गीता है ॥ ४९ ॥

गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पांडव ।
कीर्त्तनात्सर्वपापानि विलयं यांति तत्क्षणात् ॥ ५० ॥

हे पांडव ! गीताके जो गुप्त नाम हैं सो मैं तुमसे कहता हूं जिनके कीर्तनसे तत्काल सर्व पाप क्षय होते हैं ॥ ५० ॥

अथ गीतानामानि ।

गीता गंगा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती ।
ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या मुक्तगेहिनी ॥ ५१ ॥
अर्द्धमात्रा चिदानंदा भवघ्नी भयनाशिनी ।
वेदत्रयी परानंता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥ ५२ ॥

अब गीताके नाम कहते हैं—गीता १ गंगा २ गायत्री ३ सीता ४ सत्या ५ सरस्वती ६ ब्रह्मविद्या ७ ब्रह्मवल्ली ८ त्रिसंध्या ९ मुक्तगेहिनी १० अर्द्धमात्रा ११ चिदानंदा १२ भवघ्नी १३ भयनाशिनी १४ वेदत्रयी १५ परा १६ अंनता १७ तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी १८ ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

इत्येतानि जपन्नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथांते परमं पदम् ॥ ५३ ॥

गीताके इन १८ नामोंको नित्य मन स्थिर करके जपता रहे तो शीघ्र ही ज्ञानसिद्धिको प्राप्त होके अंतमें मोक्षको प्राप्त होता है ५३

पाठेऽसमर्थः संपूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ५४ ॥

जो संपूर्ण पाठ न कर सके तो आधी गीताका अर्थात् नव अध्यायोंका पाठ करे तो एक गोदानका पुण्य पावै; इसमें संशय नहीं ॥ ५४ ॥

षडंशं जपमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत्।
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ ५५ ॥

छठे अंशको याने तीन अध्यायका नित्य पाठ करे तो गंगास्नानका फल पावे. तीसरे भागका याने छः अध्यायका नित्य पाठ करनेसे सोमयागका फल पावै ॥ ५५ ॥

तथाऽध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरंतरम्।
इंद्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद्ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

दो अध्यायोंका नित्य पाठ करता रहै तो इंद्रलोकको प्राप्त होके वहां एक कल्प वास करै ॥ ५६ ॥

एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ ५७ ॥

जो एकही अध्यायका निरंतर नियमसे भक्तिपूर्वक पाठ करता रहै तो रुद्रलोकको प्राप्त होके वहां शंकरका गण होके बहुत काल-पर्यंत याने कल्पपर्यंत रहके मुक्त होता है ॥ ५७ ॥

अध्यायार्द्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः।
स प्राप्नोति रवेर्लोकं मन्वंतरशतं समाः ॥ ५८ ॥

जो मनुष्य गीताका आधा अथवा पाव अध्यायका भी नित्य नेमसे पाठ करता रहै तो वह सूर्यलोकमें सौ मन्वंतरके वर्षोंपर्यंत वास करै ॥ ५८ ॥

गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम्।
त्रिकद्विकैकमर्द्धं वा श्लोकानां च पठेन्नरः।
चद्रंलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम् ॥ ५९ ॥

जो गीताके दश श्लोक अथवा सात पांच चार तीन दो एक

अथवा आधे श्लोकका भी निरंतर पठन करे तो अयुतायुतवर्ष याने दशकोटिवर्ष (१०,००,००,०००) चंद्रलोकमें वास करैगा॥५९॥

गीतार्थमेककालेऽपि श्लोकमध्यायमेव च।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहे प्रयाति परमं पदम्॥६०॥

जो एककाळ भी गीताके एक श्लोकका अथवा अध्यायका अर्थ स्मरता भया देहको त्यागे तो मोक्षको पावे॥६०॥

गीतार्थं वापि पाठं वा शृणुयादंतकालतः।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः॥६१॥

जो अंतकाळके समयमें गीताका अर्थ अथवा पाठ सुनता देह त्यागै तो महापातकी भी मुक्त होय॥६१॥

गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः।
स वैकुंठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते॥६२॥

जो गीताके पुस्तक युक्त प्राणोंको त्यागे सो विष्णुलोकको प्राप्त होके विष्णु समीप आनंद करै॥६२॥

गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम्॥६३॥

जो मरण समयमें गीता पुस्तकका एक अध्याय भी समीप होय तो मनुष्य जन्म पायके फिर गीताभ्यास करके मुक्त होय॥६३॥

गीतोच्चारणसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत्।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठं प्रकीर्त्तयेत्॥
तत्तत्कर्म च निर्दोषं कृत्वा पूर्णमवाप्नुयात्॥६४॥

मरते समय भी जो गीता ऐसा उच्चारण करके मरे तो भी मुक्त होय जो जो कर्म करै उस उसमें गीता पाठ करे तो निर्दोष कर्मका संपूर्ण फळ पावे॥६४॥

पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै ।
संतुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यांति सद्गतिम् ॥ ६५ ॥

जो श्राद्धमें पितरोंके निमित्त गीताका पाठ करे तो वे पितर संतुष्ट भये हुए नरकसे मुक्तिको जायँ ॥ ६५ ॥

गीतापाठेन संतुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः ।
पितृलोकं प्रयांत्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥ ६६ ॥

गीतापाठसे प्रसन्न पितर पुत्रको आशीर्वाद देते हुए पितृलोकको जाते हैं ॥ ६६ ॥

लिखित्वा धारयेत्कंठे बाहुदंडे च मस्तके ।
नश्यंत्युपद्रवाः सर्वे विघ्नरूपाश्च दारुणाः ॥ ६७ ॥

गीताको लिखके गलेमें, भुजापर अथवा मस्तकमें धारण करे तो उसके विघ्नरूप दारुण उपद्रव नाश होयँ ॥ ६७ ॥

गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम् ।
दत्त्वा तत्साद्द्विजे सम्यक्कृतार्थो जायते जनः ॥ ६८ ॥

गोदान देनेपर गौकी पूँछसहित हाथमें गीताका पुस्तक लेके जिसने दान दिया वह सब करचुका ॥ ६८ ॥

पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः ।
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवे ॥ ६९ ॥

सुवर्णसंयुक्त गीतापुस्तकका दान जो शुद्धमनसे विद्वान् ब्राह्मणको देय सो फिर जन्म न पावे ॥ ६९ ॥

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ ७० ॥

जो गीताके सौ पुस्तकोंका दान करे, तो जिस लोकसे फिर यहां नहीं जन्मता है उस वैकुंठको जाता है ॥ ७० ॥

गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधीः समाः ।

विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ ७१ ॥

गीतादानके प्रभावसे विष्णुलोकमें सात कल्पपर्यंत विष्णुसंयुत रहके आनंद करे ॥ ७१ ॥

सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत् ।
तस्मै प्रीतोऽस्मि भगवान्ददामि मनसेप्सितम् ॥७२॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि, जो गीताका अर्थ सुनके, पुस्तकका दान करे उसको मनवांछित फल देता हूँ ॥ ७२ ॥

देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत ।
न शृणोति पठत्येव गीताममृतरूपिणीम् ॥ ७३ ॥
हस्तात्त्यक्त्वाऽमृतं प्राप्तं कष्टात्क्ष्वेडं समश्नुते ।
पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत् ॥७४॥

जो मनुष्य देह पाइके इस अमृतरूपिणी गीताको न पढता है और न सुनता है सो हाथमें आये हुए अमृतको त्यागके विषको कष्टसे पीता है; इस गीतारूप अमृतका पान करके मोक्षको प्राप्त होके सुखी होता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

जनैः संसारदुःखार्त्तैर्गीताज्ञानं च यैः श्रुतम् ।
संप्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ॥ ७५ ॥

संसारदुःखकरके पीडित जिन मनुष्योंने इस गीताके ज्ञानको सुना वे अमृत होके विष्णुलोकको प्राप्त भये ॥ ७५ ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥ ७६ ॥

इस गीताका आश्रय करके बहुतसे जनकादिक राजा पापरहित होके परमपदको गये हैं ॥ ७६ ॥

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ७७ ॥

गीतामें नीच ऊंचका विशेष नहीं, आत्मा सबमें समान है; इससे यह ब्रह्मस्वरूपिणी है ॥ ७७ ॥

योऽभ्यसूयति गीतां च निंदां वा प्रकरोति च।
प्राप्नोति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ७८ ॥

जो गीताकी ईर्षा और निंदा करता है सो प्रलयपर्यंत नरकमें रहता है ॥ ७८ ॥

अहंकारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते।
कुंभीपाके स पच्येत यावत्कल्पलयो भवेत् ॥ ७९ ॥

जो अहंकारसे गीताके अर्थको नहीं मानता है सो प्रलयकाल-पर्यंत कुंभीपाक नरकमें पचता है ॥ ७९ ॥

गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः।
श्वसूकरभवां योनिमनेकां सोऽधिगच्छति ॥ ८० ॥

जो गीता बँचती भईको नजदीक जाके नहीं सुनता है सो कुत्ता और सूवरके अनेक जन्म पाता है ॥ ८० ॥

चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत्।
न तस्य स्यात्फलं किंचित्पठनं च वृथा भवेत् ॥ ८१ ॥

जो गीताकी पुस्तक चोरीसे लाइके उसपर पाठ करे तो उसको पाठका फल तो नहीं मिले और वृथापरिश्रम होता है ॥ ८१ ॥

यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमादरात्।
नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमम् ॥ ८२ ॥

जो गीताके अर्थको सुनके अति आदरसे आनंद नहीं होता है उसको फल नहीं मिलता है वह प्रमादसे वृथा होता है ॥ ८२ ॥

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च पट्टांबरप्रवेष्टनम्।
निवेदयेच्च तद्वेष्टच प्रीतये परमात्मनः ॥ ८३ ॥

गीताको सुनके सुवण और रेशमी वस्त्र पुस्तक लपेटनेका उसपर लपेटिके परमात्माकी प्रीतिके वास्ते बाँचनेवालेको देना ॥ ८३ ॥

वाचकं पूजयेद्भक्त्याद्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अन्नैर्बहुविधैः प्रीत्या तुष्यतां भगवानिति ॥ ८४ ॥

द्रव्य, वस्त्र, आभूषणादिकोंकरके वक्ताका पूजन करके नानाप्रकारके अन्न देना कि, भगवान् प्रसन्न होवे, इस बुद्धिसे देना॥८४ ॥

माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं सनातनम् ।
गीतांते पठते यस्तु यथोक्तं फलमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

यह श्रीकृष्णका कहा भया सनातनगीताका माहात्म्य इसको गीतापाठ करके अंतमें पढे तो यथोक्त फल पावे ॥ ८५ ॥

गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव हि केवलम् ॥ ८६ ॥

गीतापाठ करके माहात्म्यको न बाँचे तो उसके पाठ करनेका श्रम वृथा ही है. पाठका फल नहीं पाता है ॥ ८६ ॥

एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ।
श्रद्धया यः शृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात्॥८७॥

जो इस माहात्म्यके संयुक्त गीतापाठ करेगा अथवा सुनेगा सो दुर्लभ मोक्षपदको पावेगा ॥ ८७ ॥

श्रुत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं यः शृणोति वै ।
तस्य पुण्यफलं लोके भवेद्धि मनसेप्सितम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीमद्वाराहपुराणे सूतशौनकसंवादे श्रीकृष्ण प्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं संपूर्णम् ॥

जो गीताको सुनके और पढके माहात्म्यको पढते सुनते हैं वे मनइच्छित फलको पाते हैं ॥ ८८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचिता श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यचंद्रिकाव्याख्या समाप्तिमगात् ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

सान्वय-अमृततरंगिणीभाषाटीकासमेता ।

श्रीर्जयति ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

प्रणम्य परमात्मानं कृष्णं रामानुजं गुरुम् ॥
गीताव्याख्यामहं कुर्वे गीतामृततरंगिणीम् ॥

जब श्रीकुरुक्षेत्रमें दुर्योधनादिक धृतराष्ट्रके पुत्र और युधिष्ठिरादिक पांडुके पुत्र आपआपकी सेनाओंको लेके युद्धकेवास्ते तैयार भये तब यहाँ हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्र संजयसे पूछने लगे, हे संजय ! धर्मस्थल कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छा किये भये इकट्ठे भये हुए मेरे पुत्र और पांडुके पुत्र ये निश्चयकरके क्या करनेको प्रारंभ करते भये सो कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

ऐसे धृतराष्ट्रके वाक्य सुनिके संजय कहते भये कि, हे राजन् ! राजा दुर्योधन व्यूहरचनायुक्त पांडवनकी सेनाको देखके तब द्रोणाचार्यके समीप जाके वचन बोलते भये ॥ २ ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! जो तुम्हारा शिष्य बुद्धिमान् ऐसा द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न तिसंकरके यथायोग्यस्थानोंपर स्थापित पांडुपुत्रोंकी इस सर्वोत्तम सेनांको आप देखो ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

इस सेनामें जो युद्धकरनेमें भीम अर्जुनके समान बडेधनुष धारी शूर हैं वे ये कि, युयुधान और विराट और महारथ द्रुपद ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु चेकितान और बली काशीका राजा तथा पुरुजित् और कुंतिभोज और नरोंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पराक्रमी और उत्तमशक्तिवाला और धीरजवान् ऐसा युधामन्यु सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु और सर्व द्रौपदीके पुत्र याने पांच ये महारथ ही हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अब हे द्विजोत्तम ! जो हमारेनमें हमारी सेनाके श्रेष्ठ सेनापति हैं उनको जाननेके वास्ते तुम्हारेसे कहता हूं तिन्होंको जानो॥७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

जो हमारी सेनामें मुख्य हैं उनमें एक आप हो और भीष्म और कर्ण और संग्रामके जीतनेवाले कृपाचार्य अश्वत्थामा और विकर्ण और तैसा ही राजा सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

मेरे वास्ते त्यागा है जीवन जिनने और नानाशस्त्रके प्रहार करनेवाले और भी बहुत शूर सर्व युद्धचतुर हैं॥ ९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

हमारी सेना भीष्मकरके रक्षित है तिससे असमर्थ है और इनकी यह सेना भीमकरके रक्षित है इससे बलिष्ठ है तात्पर्य यह कि, भीष्म उभयपक्षपाती है॥ १०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि॥ ११॥

इससे सर्व नाकेपर यथायोग्य भाग बनाये भये खडे रहके तुम सब ही निश्चयकरके भीष्मकाही संरक्षण करो॥ ११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

ऐसे सुनके बडे प्रतापवान् कौरवनमें वृद्ध पितामह भीष्म उस दुर्योधनको हर्ष उत्पन्न करते करते ऊंचे स्वरसे सिंहनादसे गर्ज कर शंखको बजाते भये॥ १२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

तब शंख और भेरी और तासे नगारे रणसींहे एक संगही बजते भये सो शब्द मिश्रित भारी होता भया॥ १३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

तब जिसमें श्वेत घोडे जोडे हैं ऐसे श्रेष्ठ रथपर बैठे भये कृष्ण और अर्जुन दिव्य शंखोंको बजाते भये ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

तहां श्रीकृष्ण पांचजन्यको, अर्जुन देवदत्तको, भयंकर है कर्म जिसका ऐसा वृकोदर याने तीक्ष्णाग्नि उदरवाला भीम पौंड्रनाम महाशंखको बजाते भये ॥ १५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुंतीका पुत्र राजा युधिष्ठिर अनंतविजय शंखको, नकुल और सहदेव सुघोष और मणिपुष्पक शंखोंको, क्रमसे बजाते भये याने नकुल सुघोषको और सहदेव मणिपुष्पकको बजाते भये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ धनुषवाला काशीका राजा और महारथ शिखंडी धृष्टद्युम्न और विराट और शत्रुओंकरके अजित सात्यकी यादव ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीनाथ ! राजा द्रुपद और सर्व द्रौपदीके पुत्र और महाबाहु अभिमन्यु ये न्यारे न्यारे शंख बजाते भये ॥ १८ ॥

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

सो मिश्रित बडा ऐसा शब्द आकाश और पृथिवीको शब्दायमान करता २ धृतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण करता भया १९

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे महीपते ! तब शस्त्रपात प्रवृत्तसमयमें कपिध्वज पांडव अर्जुन तुम्हारे पुत्रोंको युद्धार्थ खडे देखके तब धनुषको ऊंचा करके श्रीकृष्णसे ये वाक्य बोलते भये कि हे अच्युत ! दोनों सेना- ओंके मध्यमें मेरे रथको स्थापित करो ॥ २० ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

मैं प्रथम इन युद्धइच्छावाले खडे भयेनको देखूंगा कि इस रण- खेतमें मुझेकरके किनके साथ युद्ध करनो योग्य है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

जो ये जितने दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्रके युद्धमें प्रिय इच्छनेवाले यहां इकट्ठे भये हैं इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूंगा ॥ २३ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं कि, हे भारत! अर्जुनकरके ऐसे कहेभये श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके बीचमें श्रेष्ठ रथको स्थापित करके भीष्म

और द्रोणाचार्यके सामने और सर्व राजाओंके सामने बोलते भये कि, हे पार्थ! ये इकट्ठे भये जो कुरुवंशी तिनको देखो ॥ २४॥२५॥

तत्राऽपश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ २६ ॥
तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान् बंधूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्णजीके कहनेपर अर्जुन उस रणमें खडे हुए पितृ (पितासदृश भूरिश्रवादिक काका) पितामह (भीष्म सोमदत्तादिक) आचार्य (द्रोणाचार्यादिक) मामा (शकुनि शल्यादिक) भ्राता (दुर्योधनादिक) पुत्र (द्रौपदीमें पांचोंसे भये जो पांच) पौत्र (लक्ष्मणादिकोंके पुत्र) तथा सखा (अश्वत्थामा जयद्रथादिक) ससुर (द्रुपदादिक) और सुहृद् (कृतवर्मादिक) इनको देखते-भये ऐसे दोनों सेनाओंमें भी उन सर्व बंधुनको खडे देखिके सो कुंतीपुत्र अर्जुन अति कृपाकरके व्याप्त खेदित होते होते यह बोलते भये ॥ २६ ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २८ ॥२९॥

अर्जुन कहते हैं कि, हे कृष्ण! युद्धकी इच्छावाले खडे भये इन स्वजनोंको देखिके मेरे गात्र शिथिल होते हैं और मुख सूखता है और मेरे शरीर में कंप और रोमांच होते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

हाथसे गांडीवधनुष गिरा परता है और त्वचा भी जरी जाती है और खडे होनेको भी नहीं सकता हूं और मेरा मन भ्रमता सरीखा है ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

और हे केशव ! निमित्त भी विपरीत देखता हूं और संग्राममें स्वजनोंको मारके फिर कल्याण भी नहीं देखता हूं ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किन्नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे कृष्ण ! विजय और राज्य और सुख नहीं चाहता हूं हे गोविंद ! हमको राज्यकरके भोगकरके अथवा जीवनेकरके भी क्या प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३

हमने जिनके वास्ते भोग सुख और राज्य चाहा था वे ये प्राण और धनोंको त्यागके युद्धमें खडे हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ३४॥

ये सर्व मेरे आचार्य पितातुल्य काका पुत्र और तैसे ही पितामह मामा ससुर नाती पोता साले तथा और संबंधी हैं ॥ ३४॥

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन ! तीनों लोकोंके राज्यके वास्ते भी मुझको ये

मारते हों तौ भी इनको मारनेकी नहीं इच्छा करता हूं तो पृथि-
वीकेवास्ते क्यों मारूंगा ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारके हमको क्या प्रसन्नता
होयगी इन आततायिनको मारके हमको पापही लगेगा ॥
आततायीलक्षण-" दोहा-अग्नि देइ विष देइ जो, क्षेत्रदारहर जोइ ॥
धनहर सन्मुख शस्त्र कर, आततायि षट् होइ " ॥ १ ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७॥

जिससे कि, इनके मारनेका पाप ही होगा तिससे हमारे बंधु
धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेकेवास्ते हम नहीं योग्य हैं. हे माधव!
निश्चयपूर्वक स्वजनोंको मारके कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन! लोभकरके जिनके चित्त भ्रष्ट भये हैं ऐसे ये दुर्यो-
धनादिक कुलक्षय करनेके दोषको और मित्रद्रोहमें पापको यद्यपि
नहीं देखते हैं (नहीं जानते हैं) तो भी कुलक्षयकृत दोषको दे-
खते भये हम करके इस पापसे निवृत्त होनेके वास्ते कैसे न जानना
चाहिये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलके क्षय होनेसे सनातन कुलके धर्म नाश होते हैं फिर धर्म नष्ट होनेसे सर्व कुलको अधर्म जीत लेता है याने कुलको अप्रतिष्ठित कर देता है ॥ ४० ॥

अधर्माऽभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! अधर्म करके कुलको अप्रतिष्ठित होनेसे कुलकी स्त्रीजन दुष्ट होयँगी हे वृष्णिवंशोद्भव ! उन दुष्ट स्त्रीनमें वर्णसंकर उत्पन्न होयगा ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

जिससे कि, जिनके पितृ पिंडोदकक्रिया प्राप्त भये विना संसारमें पडते हैं इसीसे कुलघातिनके कुलको वह वर्णसंकर नरक प्राप्तिके हेतु ही उत्पन्न होता है ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

जो कुलघाती हैं उनके जो ये वर्णसंकरकारक दोष तिन करके जाति धर्म और सनातन कुलधर्म नष्ट होते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट भये उन मनुष्योंका नरकमें अवश्य वास होता है ऐसा सुनते हैं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो कष्ट हम बडे पापको करनेको निश्चय किये हैं जो राज्य सुखंलोभ करके स्वजनोंको मारनेका उद्योग किये हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

जो हाथमें शस्त्र लिये हुये धृतराष्ट्रके पुत्र अशस्त्रको और अप्रतीकारको याने जो मैं बदला नहीं लेताहूँ ऐसे मेरेको रणमें मारेंगे सो मारना भी मेरा अतिकल्याणरूप होयेगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं कि, संग्राममें अर्जुन ऐसे कहके बाणसंयुक्त धनुष डालके शोकव्याकुलमन हुआ भया रथके पिछाडी जाके रथमें बैठ रहता भया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां प्रथमाध्यायप्रवाहः ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं कि, जो प्रथम अध्यायमें करुणावाक्य कहे वैसीही कृपाकरके व्याप्त आंसुनके भरनेसे नेत्र व्या-

कुल विषादयुक्त उस अर्जुनसे मधुसूदन भगवान् ये वाक्य बोलते भये ॥ १ ॥

कुतस्त्वाकश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

जो बोले सो कहते हैं कि, हे अर्जुन! जो अनारिनके सेवनेयोग्य नरकको लेजानेवाला और अपकीर्त्तिका करनेवाला ऐसा यह मोह तुमको ऐसे विषमस्थलमें कैसे प्राप्त भया ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पृथाके पुत्र! तुम कायरताको न ग्रहण करो तुममें यह नहीं योग्य है हे परंतप! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताकारक कायरताको छोडके खडे हो जावो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

ऐसे कृष्णके वाक्य सुन अर्जुन बोले कि, हे मधुसूदन! मैं संग्राममें भीष्म और द्रोणाचार्यसे बाणोंकरके कैसे युद्ध करूंगा हे अरिसूदन! ये दोनों पूजनेयोग्य हैं यहां मधुसूदन कहनेका तात्पर्य यह कि, आप दैत्यहंता हो तो सज्जनोंसे क्यों युद्ध कराते हो अरिसूदन कहनेका तात्पर्य कि, जो शत्रुनाशक हो तो भीष्मादिक पूज्यनपर बाणप्रहार क्यों कराते हो ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥ हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इस लोकमें अति उत्तम प्रभाववाले गुरुनको मारे विना भिक्षाका अन्न भी खानेको कल्याणही जानना और अर्थ याने द्रव्यकी है कामना जिनके ऐसे गुरुनको मारके रक्तसे भरेभये भोगोंको भोगूंगा ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥ यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

यह भी नहीं जानते हैं कि, हमें कौन बली है नजाने हम जीतेंगे किंवा वे हमको जीतें जिनको मारके हम जीना नहीं चाहते हैं वे धृतराष्ट्रके पुत्र सन्मुख ही खडे हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ॥ यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्य यह कि, हम इनको मारके कैसे जियेंगे तथा दोष जो कुलक्षयका दोष इन कार्पण्य और कुलक्षयदोषों करके मेरा क्षत्रिय स्वभाव विध्वंसित भया है इसीसे धर्ममें भी मेरा चित्त चकित भया है जैसे कि, क्षत्रियधर्म युद्ध अथवा भिक्षान्नभोजन इनमें कौन कल्याणकारक है ऐसे चित्त चकित है ऐसा मैं तुम्हारा शिष्य तुमको पूंछता हूँ जो मेरे वास्ते निश्चय कल्याणदायक होय वही कहो तुम्हारे शरणागत मुझको सिखावो ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ॥ अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अरेरेरेरे ! बडा अनर्थ है कि, जो पृथ्वीमें शत्रुरहित संपदायुक्त राज्यको और देवताओंके भी अधिपतित्वको पायके मेरी इंद्रियनके सुखानेवाले शोकको दूर करे उसका मैं नहीं देखताहूं ॥८॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहने लगे कि, शत्रुनको संतापित करनेवाला तथा गुडाका जो निद्रा तिसके जीतनेमें समर्थ ऐसा जो अर्जुन हृषीकेश याने इंद्रियोंके मालिक श्रीकृष्णको ऐसे कहके फिर नहीं युद्ध करूंगा ऐसे गोविंदसे कहके मौन होते भये ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भरतवंश उत्पन्न धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओंके मध्यमें युद्धके उत्साहको त्यागिके शोक कर रहा जो अर्जुन तिससे हँसतेसरीखे श्रीकृष्णजी यह याने जो आगे कहेंगे सो वचन बोलते भये ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण भगवानने निश्चय किया कि, इसको धर्माधर्मका ज्ञान नहीं है, इससे यह धर्मको तो अधर्म और अधर्मको धर्म मान रहा है, परंतु धर्मको जनना चाहता है सो मोह गये विना यह कैसे जानेगा ? सो मोह आत्मदर्शन विना नष्ट होनेका नहीं ज्ञान विना आत्मदर्शन होनेका नहीं, सो ज्ञान निष्काम कर्म विना होनेका नहीं और

अध्यात्मशास्त्र जो आत्म-अनात्म-विवेकउपदेश याने जीव और शरीरका विवेक उसका उपदेश इस विना निष्काम कर्म हो नहीं सकता इससे अध्यात्मशास्त्रका ही उपदेश करो, ऐसा विचारके उपदेश करने लगे. अब इस श्लोकसेलेके अठारहें अध्यायके छाँसठके श्लोकमें जो "मा शुचः" ऐसा वाक्य है वहां पर्यंत गीताउपदेश है. तहां प्रथम भगवान् कहते हैं कि, हे अर्जुन ! "त्वम् अशोच्यान् अन्वशोचः" याने जो शोचनेयोग्य नहीं तिनको शोचते हो और प्रज्ञावाद याने पंडितों सरीखी बातें तिनको भाषते याने कहते हो वे ऐसे कि, हमारे पितरोंके श्राद्ध और तर्पण न होनेसे वे स्वर्गसे नरकमें पड़ेंगे सो स्वर्गप्राप्ति और पडना श्राद्धादिक होने न होनेके स्वाधीन नहीं है; वे तो आपके करे पुण्यपापके स्वाधीन हैं "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशंति" इस प्रमाणसे वे पुण्य पाप सदेह आत्माके स्वाधीन हैं. केवल देहके स्वाधीन नहीं हैं यद्यपि पुत्रादिकोंके करे भये श्राद्धादिकोंका पुण्य प्राप्त होता है; कारण कि, पुत्रादिक सदेह आत्मसंबंधी है; तथापि श्राद्ध न होनेसे स्वर्गसे पडना यह किसी कालमें भी होनेका नहीं; इसवास्ते 'गतासु' जो वे शरीर नित्य नाशधर्मी और 'अगतासु' जो जीव नित्य अमर एकरस हैं इससे "नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः" इस प्रमाणसे पंडितजन इनका शोच नहीं करते हैं; इससे तुमको भी शोचना अयोग्य है. "स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः सिद्धिं विंदति मानवः" इस प्रमासणे स्वधर्म युद्ध ही कल्याणकारक है ॥ ११ ॥

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि, हे अर्जुन ! जो आत्मा याने जीवात्मा

परमात्मा हैं उनके स्वभाव सुनो. सो ऐसे कि, "अहं सर्वेश्वर इतः पूर्वमनादौ काले जातु नासमपि त्वासमेव" मैं सर्वेश्वर इस समयसे प्रथम अनादिकालमें क्या न था? क्योंकि, निश्चयकरके था "त्वं नासीः अपि तु आसीः एव" जैसा मैं था ऐसा क्या तू न था? तू भी था. "इमे जनाधिपाः किं न आसन् अपि त्वासन् एव" ये सब राजा क्या न थे? अर्थात् ये भी थे. "अतः परं सर्वे वयं किं न भविष्यामः अपि तु भविष्याम एव" इस कालसे अगाडी क्या हम तुम ये सर्व न होंगे? अर्थात् होहींगे. इससे आत्मा नित्य है. शोच करना वृथा है तथा जो यहां हम तुम और ये ऐसा कहा इससे यह सिद्धांत भया कि, जीवात्मा और परमात्मा न्यारे न्यारे हैं यह न्यारापना ही सत्य है. इसीसे श्रीकृष्णजीने भी उपदेश किया क्योंकि अज्ञानमोहित अर्जुनको मिथ्या उपदेश करनेकेही नहीं. इस न्यारेपनेमें श्रुति भी प्रमाण है सो यह—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामानिति"॥ अर्थ—जो एक नित्य चेतन परमात्मा है सो बहुत नित्य चेतन जीवोंकी कामनाको परिपूर्ण करता है जो कोई कहै कि यह भेद अज्ञानकृत है तो उनसे कहना कि यह परमार्थदृष्टिके अधिष्ठाता और आत्मयाथात्म्यसे सदा अज्ञानरहित नित्यस्वरूप परमपुरुष श्रीकृष्णमें अज्ञानकृत भेददर्शनकार्य होनेका नहीं तो भी कोई कृष्णको अज्ञ कहे तो उनकरके उपदिष्ट गीता अप्रमाण होती है जो कोई कहै कि, श्रीकृष्णने अभेद निश्चय किया है इससे वह भेद निराकृत है सो जले वस्त्रतुल्य बंधनकारक नहीं है. तब कहना कि, मृगतृष्णा निराकृत जानके; फिर उसमें जल लेने न जायगा. जो गया तो वह अज्ञ है. इसीतरह जो मिथ्या भेदका इसमें उपदेश दिया तो इस गीताका भी प्रमाण न मानना चाहिये. दूसरा यह कि, भेद विना

उपदेश भी नहीं बनेगा. तथा परमात्मामें ऐसा भी होनेका नहीं कि, प्रथम अज्ञ थे शास्त्राध्ययनसे ज्ञानी भये. जिसको शास्त्राभ्याससे ज्ञान होता है उसको किसी समयमें अज्ञान भी होता है. सो नित्यज्ञानस्वरूप श्रीकृष्णमें यह भी नहीं हो सकता है. यहां श्रुति प्रमाण है. सो ऐसे कि, 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' तथा यहां भी कहेंगे 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन । भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन' इत्यादि प्रमाणोंसे भेद ही सिद्ध होता है. भेद विना उपदेश किसको करे ? तहां कोई कहते हैं कि, अर्जुन कृष्णका प्रतिबिंब है, आपको आप ही उपदेश करते हैं. तहां कहना कि, दर्पण जल इत्यादिमें आपके प्रतिबिंबको देखके जो बातें करे सो उन्मत्त याने चित्तभ्रष्ट सिरी होता है, उसके वाक्य भी अप्रमाण हैं, जिसको अभेदज्ञान है उसको उपदेश बननेका ही नहीं; न उसके गुरु हैं, न शिष्य हैं इससे यही सिद्ध भया कि, परमात्मासे जीव न्यारे हैं ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे इस देहमें जीवकी कुमार अवस्था यौवन और जराअवस्था होते हैं तैसे देहांतरकी प्राप्ति भी होती है तहां धीर याने ज्ञानी पुरुष नहीं मोहता है ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४

हे कुंतीपुत्र ! मात्रा जो इंद्रियां तिनके स्पर्श जो शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये शीत उष्ण याने मृदु कठोर शब्द शीतोष्ण

शस्त्रप्रहारादिक और संयोगवियोगादिक दुःखके देनेवाले अनित्य और आगमापायी याने होते जाते रहते हैं हे भारत! तुम भरतवंशी हो उनको सहन करो ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषर्षभ! सुख और दुःख है सम जिसके ऐसे जिस ज्ञानी पुरुषको ये निश्चयकरके नहीं पीडा करते हैं सो मोक्ष जानेको समर्थ होता है ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

जो "गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः" इस वाक्यकरके आत्माका स्वाभाविक नित्यत्व और देहका नाशित्व समझके शोक न करना कहा उसीको अब 'नासतः' इत्यादिकरके खुलासा दृढता करते कहते हैं सो ऐसे कि, असत् जो नाशवान् है उसकी स्थिरता नहीं होती है और सत् जो अविनाशी है उसका नाश नहीं होता तत्त्वदर्शी पुरुषोंने इन दोनोंका भी सिद्धांत देखा है सोई आगे दो श्लोकोंमें खुलासा कहेंगे ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिस आत्मतत्त्वकरके यह सर्व अचेतन तत्त्व व्याप्त है उसको तो अविनाशी जानो। इस अविनाशीका विनाश करनेको कोई नहीं समर्थ है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

जो यह जीव अविनाशी है तथा अप्रमेय है याने यह इतना ही है ऐसा कहनेमें नहीं आता है तथा नित्य है याने सर्वदा एकसा है ऐसे जीवके ये देह नाशवंत कहे हैं हे अर्जुन ! तिससे युद्ध करो १८

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चै-नं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९॥

जो इस आत्माको मारनेवाला जानता है और जो इसको अन्यकरके मरा मानताहै वे दोनों नहीं जानते हैं यह न किसीको मारता है न किसी करके मरता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ॥ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी जन्मता और मरता नहीं यह अजन्मा है नित्य सर्वकालमें पुराण याने पहिले था सो ही है नवीन भया है और फिर होनेवाला भी नहीं है शरीरके मारनेपर भी नहीं मरता है ॥ २० ॥

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥२१॥

जो इस आत्माको अजन्मा अक्षय नित्य अविनाशी जानता है तो हे अर्जुन ! सो वह पुरुष कैसे किसको मरवावता है और कैसे किसको मारता है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥ तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-न्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

यद्यपि शरीर नष्ट होनेसे आत्माका नाश नहीं तोभी शरीरवियोगका जो दुःख होता है ऐसा अर्जुनका आशय जानके भगवान

कहने लगे कि, जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागके और नवीनोंको ग्रहण करता है तैसे जीव पुराने शरीरोंको त्यागके और नवीन शरीरोंको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

सर्व शस्त्र भी इस आत्माको नहीं छेदि (काटि) सकते हैं अग्नि इसको नहीं जलाता है जल इसको नहीं भिगोय सकता है और पवन भी नहीं सुखा सकता है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह आत्मा छेदनेयोग्य नहीं, यह जलाने योग्य नहीं और निश्चित भिजाने सुखाने योग्य भी नहीं है यह नित्य सब प्रकारके शरीरोंमें जानेवाला स्थिरस्वभाव अचल और सनातन है ॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

यह अतिसूक्ष्मतासे अप्रगट है यह विचारमें नहीं आता है यह विकाररहित कहा है तिससे इसको,ऐसा जानके शोच करनेको नहीं योग्य है । जोकि इसको नित्यजन्मा अथवा नित्य मरा जानोगे तो भी हे महाभुज अर्जुन ! तुम इस आत्माको शोचनेको नहीं योग्य हो ॥ २५ ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जिससे कि जन्मेकी मृत्यु निश्चय है और मरेका जन्म निश्चय है तिससे इस निरुपाय परिणाममें तुम शोचनेको नहीं योग्य हो॥२७

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! मनुष्यादिक भूतप्राणी जन्मके आदिमें प्रगट न थे, जन्मके पीछे मरणके आदि मध्य अवस्थामें प्रगट दीखता है मरे पीछे भी न दीखेंगे ऐसे निश्चयसे तहां शोक कोन है ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ॥ आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

ऐसे देहात्मवादमें शोकका परिहार किया।अब कहते हैं कि,देहसे न्यारे आत्मामें द्रष्टा, श्रोता वक्ता और ज्ञाता भी दुर्लभ हैं । प्रथम कहे भये लक्षणोंकरके युक्त आत्मा सर्वसे विलक्षण है । तहां कोई तपस्वी पुण्यवान् इस आत्माको आश्चर्यवत् देखता है और तैसा ही कोई आश्चर्यवत् कहता है और तैसा ही और पुरुष इसको आश्चर्यतुल्य सुनता है और कोई पुरुष इस आत्माको ही सुनके भी नहीं जानता है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे अर्जुन ! सर्वकी देहमें यह जीव नित्य ही अवध्य है तिससे तुम सर्व भूतोंको सोचनेको नहीं योग्य हो ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।३१

स्वधर्मको भी देखके दया करनेको नहीं योग्य हो क्योंकि क्षत्रियको धर्मसंबंधी युद्धसे और कल्याण नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो आपसे प्राप्त भया और खुला भया स्वर्गकाद्वार ऐसे युद्धको पुण्यवान् क्षत्रियलोग पाते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

जो कदाचित् तुम इस धर्मरूप संग्रामको न करोगे तो उससे स्वधर्म और कीर्तिको भी छोडके पापको प्राप्त होवोगे और लोग तुम्हारी अखंड अकीर्तिको भी कहेंगे सो अकीर्ति संभावित पुरुषके मरणसे अधिक है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्णजीने अर्जुनका अभिप्राय जाना कि जो मैं बंधुओंके स्नेह और दयालुतासे युद्ध न करूंगा तो मेरी अकीर्ति कैसे होगी याने होनेकी नहीं ऐसा जानके बोले कि, हे अर्जुन ! जिन कर्ण दुर्योधनादिक महारथोंके तुम शूर शत्रु ऐसे मान्य थे उनकेही अब युद्ध न करनेसे निंदायोग्य लघुताको प्राप्त होवोगे वेही महारथ शत्रु तुमको भयसे संग्राम न किया ऐसा मानेंगे वे ही तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्यको निंदतेभये बहुतसे दुर्वाक्य बोलेंगे याने अर्जुन कायर है शोभाके वास्ते शस्त्र बांधता है जैसे स्त्री आभूष-

णमें सर्प सिंहादिक देखके प्यारसे धारण करै और साक्षात् देखके प्राण लेके भागे तैसे जब ऐसी निंदा करेंगे तब उससे बडा दुःख कौन है सो कहो ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

उस निंदाके सुननेसे रणमें मरना मारनाही श्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं । हे कुंतीपुत्र ! जो रणमें शत्रुप्रहारसे मरोगे भी तो स्वर्गको प्राप्त होवोगे जो जीतोगे तो पृथिवीको भोगोगे तिससे युद्धके अर्थ निश्चय किये भये उठो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुख और दुःखको समान करके तथा लाभ और हानि जय और पराजय समान जानिके फिर युद्धके अर्थ युक्त हो ऐसे पापको नहीं प्राप्त होवोगे ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्णभगवान्‌ने ऐसा आत्मस्वरूप दिखाया अब आत्मस्वरूप ज्ञानपूर्वक मोक्षसाधनरूप कर्मयोग कहते हैं सो ऐसे कि, हे पृथापुत्र ! यह बुद्धि तुमसे मैंने सांख्य जो आत्मा देहका विवेक उसमें कही और इसीको योगमें याने कर्मयोगमें सुनो जिस बुद्धि करके युक्त कर्मबंध जो संसारदुःख उसको छोडोगे ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

जो अब ज्ञानयुक्त कर्मयोग कहेंगे तिसका माहात्म्य कहते हैं इस ज्ञानयुक्त कर्मयोगमें याने निष्काम कर्मयोगमें प्रारंभका भी

नाश नहीं है याने प्रारंभ होके समाप्त नं होय तौ भी नाश नहीं है इसके छूटनेका दोष भी नहीं होता है इस निष्काम कर्मका लव-लेशमात्र भी जन्ममरणरूप बड़े भयसे रक्षण करता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।

बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनंदन! व्यवसाय जो विष्णुपरमात्मा तिनमें है आत्मा नाम मन जिनका ऐसे पुरुषोंकी बुद्धि इस निष्कामकर्ममें ही वह एक है एक मोक्षसाधनकेही वास्ते है जो अव्यवसायी याने परमात्मा विना याने नाना पदार्थ पशु पुत्रादिकोंके चाहनेवाले हैं उनकी बुद्धि बहुत हैं याने अनेक कामनाओंमें लगी है और तहां भी बहु शाखा याने एककार्यके वास्ते कर्म करके उसमें भी अनेक फल माँगते हैं जैसे पुत्रार्थ यज्ञमें धन धान्य आयुष्य आरोग्यका मांगना ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे पृथापुत्र! जो अज्ञानीजन वेदवादरत याने वेदोक्त कर्मसे स्वर्गादिक फल ही होता है ऐसे कहनेवाले स्वर्गसुखके समान और सुख नहीं है ऐसा कहनेवाले कामनामें ही चित्त रखनेवाले स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले जिस पुष्पित याने कहने मात्रमें रमणीय जन्मकर्मरूप फलकी देनेवाली तथा जिसमें भोग और ऐश्वर्य-निमित्त बहुत उपकरण याने कर्म साधन हैं जिसमें ऐसी इस वाणीको कहते हैं इसीसे उसी वाणीकरके अपहरण भये हैं चित्त

जिनके इसीसे भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हैं उनके मनमें वह परमात्मविषयक बुद्धि नहीं प्रवृत्त होती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

हे अर्जुन ! वेद, ये त्रैगुण्यविषय हैं याने तीनों गुणोंके कर्मोंको ही कहते हैं तुम निर्द्वंद्व याने सुख दुःख जय पराजय लाभ अलाभ इन द्वंद्वोंसे रहित हो अर्थात् उनसे उत्पन्न हर्ष शोकरहित हो नित्यसत्वस्थ हो याने सात्त्विक कर्म करो निर्योगक्षेम याने कोईसा भी लाभ और लब्धका रक्षण ईश्वराधीन न जानो आत्मवान् याने परमात्मामें चित्त रांखो ऐसे भये हुए निस्त्रैगुण्य हो याने कर्मफलोंका त्याग करो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जो कहो कि वेदोक्त कर्मोंसे तुम सात्त्विक करो उसीकी खुलासा कहते हैं वैसे सर्वत्र जलसे भरे भये तालाव इत्यादिक जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन होता है उतानाही लेता है तैसे ही वेदके जाननेवालेको सर्व वेदोंमें तावान् याने सात्विक कर्महि योग्यहै ४७

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तुमको कर्ममें ही अधिकार है फलोंमें नहीं कर्मोंके फलका कारण तुममें कोई समयमें भी मत हो तुमको अकर्म याने स्वधर्म योग्य युद्धादि कर्मोंका न करना इसमें संग जो निष्ठा सो कदाचित् न हो ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ४८

हे अर्जुन! सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होके कर्मफलके संगको त्यागिके योगमें स्थित भये हुए कर्मोंको करो सिद्धि और असिद्धिमें जो समत्व है वही योग कहा है अर्थात् चित्तके समाधानत्वको योग कहते हैं तात्पर्य चित्तको समाधान करके युद्धरूप स्ववर्णोचित कर्म करो ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन! जो बुद्धियोगसे और कर्म है सो निश्चयकरके अत्यंत नीचे है इसवास्ते बुद्धियोग जो निष्काम कर्म उसीमें ईश्वरप्राप्तिकी इच्छा करो फलकी इच्छा करनेवाले कृपण हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगःकर्मसु कौशलम्॥५०॥

बुद्धियुक्त जो निष्कामकर्मी सो इसी लोकमें सुकृत जो पुण्यकर्म और दुष्कृत जो पापकर्म उन दोनोंको त्यागता है इससे योगके अर्थ याने बुद्धियोग जो निष्काम कर्म उसके वास्ते युक्त हो यह योग सर्व कर्मोंके कुशलकारक है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥ ५१ ॥

जो बुद्धियोगयुक्त हैं वे ज्ञानी कर्मजन्य फलको त्यागके जन्मबंधनसे मुक्त भयेहुए निश्चयकरके मोक्ष पदको जाते हैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप दुःखको उल्लंघन करैगी तब जो फलादिक सुनवेयोग्य और जो सुने हो उनके वैराग्यको प्राप्त होवोगे५२

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब तुम्हारी बुद्धि श्रुतिमें यानें मेरे उपदेशमें विशेषकरके आसक्त निश्चल मनमें अचल ठहरेगी तब योगको पावोगे ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

एसा सुनिके अर्जुन बूझते भये, हे केशव! यानी सर्वके अंतःकरणमें रहनेवाले हे ईश्वर ! स्थिरबुद्धि समाधिस्थकी कौनसी भाषा यानी उसका वाचक कौन है अर्थात् वह स्थिरबुद्धि किससे कहताहै स्थिरबुद्धि कैसे बोलता है कैसे बैठता ह और कैसे चलता है॥५४॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अब श्री कृष्णभगवान् स्थिर बुद्धिवालेका स्वरूप कहते हैं तहां ऐसा न्याय है कि, रहनिरीतिसे भी स्वरूप निश्चय होता है इससे रहनिरीति कहते हैं सो ऐसे कि, हे अर्जुन! जब आपके मनकरके आपे स्वरूपमेंही संतुष्ट भया हुआ मनमें रहे भये सर्व मनोरथोंको सर्वथा त्यागता है तब वह स्थिरबुद्धि कहाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंमें जिसका मन व्याकुल नहीं होता है सुखोंमें निराश होता है और जिसके पुत्रादिस्नेह भय और क्रोध न होय सो मुनि स्थिर बुद्धि कहाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेष्टि स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५७ ॥

जो सर्वत्र स्नेहरहित उस उस शुभाशुभको पाके भी न शुभसे आनंद हो व अशुभसे दुःखी हो तब सो स्थिरबुद्धि कहाता है ५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८॥

जब यह, कछुवा जैसे अपने सर्व अंगोंको समेट लेता है तैसे इंद्रियोंके विषयोंसे आपकी सर्व इंद्रियोंको खैंच लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

इंद्रियोंके आहार इंद्रियविषय उनको जो नहीं सेवता है उसके विषयानुराग विना विषय निवृत्त होते हैं वह विषयानुराग आत्मस्वरूपको देखके निश्चय निवृत्त होता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥ इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥ वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६० ॥ ६१ ॥

हे कुंतीपुत्र! आत्मदर्शन विना विषयानुराग निवृत्त होता नहीं और उसकी निवृत्ति विना जो ज्ञानी पुरुष बुद्धिकी स्थिरताके वास्ते यत्न करता है तोभी जिससे ये जोरावरीसे मनको हरनेवाली इंद्रियां जबरईसे मनको हरती हैं इससे योग युक्त भयाहुआ उन सर्व इंद्रियोंको नियमित करके मेरे आश्रय रहै जिसके इंद्रियां वशीं हैं उसकी निश्चयकरके बुद्धि स्थिर है ॥ ६० ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः॥ स्मृति-
भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६२॥ ६३॥

बाह्य इंद्रियनकी प्रबलता और उनको वश न करनेमें जो दोष सो कहा अब मनसंबंधी कहते हैं, जो पुरुष मनवश किये विना जितेन्द्रियता चाहता है, सो होनेकी नहीं जैसे कि, जिसके मनमें विषयोंका चितवन है उस पुरुषको उन विषयोंमें संयम करते करते भी आसक्ति होगी उस आसक्तिसे अभिलाषा होगी अभिलाषासे क्रोध होगा क्रोधसे मतिभ्रम होता है मतिभ्रमसे स्मरणशक्तिमें विभ्रम होता है स्मृतिविभ्रमसे ज्ञानका नाश ज्ञानके नाशसे स्वरूपसे नष्ट होता है याने संसारमें भ्रमता है॥ ६२॥ ६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन्॥ आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥ प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते॥ प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

वश्य है मन जिसका ऐसा पुरुष रागद्वेषकरके रहित और आपके वश्य ऐसी इंद्रियोंकरके विषयोंका सेवन करता भया प्रसन्नताको प्राप्त होता है याने निर्मलांतःकरण होता है तब निर्मलचित्त होनेसे इसके सर्वदुःखोंका नाश होता है उस प्रसन्न चित्तवालेकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर होती है॥ ६४॥ ६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

अयुक्त जो समतारहित है उसकी बुद्धि नहीं स्थिर होती है और उस अयुक्तके भावना याने आस्तिकता सोभी नहीं होती है और जिसके भावना नहीं उसके शांति नहीं, जिसके शांति नहीं उसको कहाँसे सुख होगा ॥ ६६ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

जिससे कि, जो मन विषयमें प्रवृत्त इंद्रियोंको अनुहरता है सो इस पुरुषकी बुद्धिको वायु जलमें नावको ऐसे हरता है। इसीसे हे महाबाहो ! जिसकी सर्व इंद्रियां इंद्रियोंके विषयोंसे सर्वथा रोकी हुई हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सर्वभूत प्राणीमात्रोंकी जो रात्रि अर्थात् जिस विषयमें सर्व सोयेसे रहे हैं ऐसी जो परमात्मविषया बुद्धि उसमें इंद्रिय संयमी जागता है याने आत्मस्वरूपको देखता है जिस शब्दादिविषयरूप रात्रिमें सर्व भूत (प्राणी) जागते हैं सो ज्ञानी जनकी रात्रिरूप है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जैसे आपही परिपूर्ण सर्वदा एकसे भरे हुए समुद्रमें जल बाहरसे भरता है वैसे जिसको सर्व कामना प्राप्त होती हैं सो शांतिको प्राप्त होता है जो कामनाओंकी इच्छा करनेवाला है सो नहीं शांतिको पाता है ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष सर्व अभिलाषोंको छोडके इच्छारहित विचरता है सो ममतारहित और अहंकाररहित हुआ शांतिको प्राप्त होताहै ७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्य-
योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! यह जो निष्कामकर्मरूप मैंने कही सो ब्रह्मप्राप्तिकारक स्थिति है इसको पाके नहीं मोहको पाता है। इसमें अंतकालमें भी स्थित होके ब्रह्मसदृश मुक्ति पावे अर्थात् जो सर्वकाल ऐसा ही रहे उसकी मुक्तिको संदेह क्या है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथ-
प्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां
द्वितीयाऽध्यायप्रवाहः ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

ऐसे श्रीकृष्णके वाक्य सुनके अर्जुनने विचार किया कि भगवान्ने प्रथम मुझको 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्यादि वाक्यों करके ज्ञानयोग उपदेश किया फिर 'बुद्धियोगे त्विमांशृणु' इत्यादिकरके कर्मयोग उपदेश किया उसमें भी 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला' इत्यादिकरके निष्काम कर्मसे आत्मज्ञानकी

ही प्राप्ति कही इससे निश्चय होता है कि, कर्मयोगसे जो पीछे आत्मज्ञान कहा सोई श्रेष्ठ है ऐसे विचारके अर्जुन भगवानसे कहने लगे कि, हे जनार्दन ! जो किं, कर्मयोगसे ज्ञानयोग ही तुमने श्रेष्ठ मानाँ हो तो हे केशव! घोरं कर्ममें मुझको क्यों युक्त करते हो॥ १॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

ऐसे मिश्रित वाक्यकरके मेरी बुद्धिको मोहते हो जिसकरके मैं कल्याणको प्राप्त होऊं सो एक निश्चयकरके कहो ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

ऐसे अर्जुनके वाक्य सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोलते भये । हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें पूर्वकालमें मैंने दो प्रकारकी निष्ठा कही है सो सांख्यवालोंको ज्ञानयोगकरके और योगियोंको कर्म योगकरके ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

शास्त्रोक्त कर्मोंके किये विना पुरुष निष्कर्मता जो सर्वेंद्रियविषयनिवृत्तिपूर्वक ज्ञाननिष्ठा उसको नहीं प्राप्त होता है और कर्मके न करनेसे भी सिद्धिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

किसीकालमें क्षणभर भी कर्म किये विना कोईभी पुरुष निश्चय

करके नहीं रहता है क्योंकि सर्वसत्त्वादिप्रकृतिके गुणोंकरके परवश कर्म करना ही पड़ता है ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इंद्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होनेको कर्मेंद्रियोंको हठसे संयममें रखके इंद्रियविषयोंको मनकरके सुमिरता सुमिरता रहता है सो मूढमति मिथ्याचार याने वृथायोगी कहाता है ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

और जो इंद्रियोंको मनसे नियममें रखके विषयोंमें आसक्त न भया हुआ कर्मेंद्रियोंकरके कर्मयोगको करता है हे अर्जुन ! सो श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

तिससे तुम स्ववर्ण उचित कर्म करो क्योंकि कर्म न करनेसे कर्म करना है श्रेष्ठ और कर्म विनां तुम्हारा ज्ञानयोग करनेको शरीर निर्वाह भी न सिद्ध होगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचार ॥ ९ ॥

जो कर्मसे बंधन कहा है सो ऐसा कि, जो यज्ञार्थकर्म है उससे अन्यत्र कर्म करनेसे यह मनुष्य कर्मबंधनको प्राप्त होता है। कुंतीपुत्र ! तुम फलासंग छोडे हुये उस यज्ञकेही अथ कर्म करो ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

प्रजापति जो परमात्मा सो पुरा याने सृष्टिकालमें यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न करके बोले कि, इस यज्ञकरके तुम वृद्धिको प्राप्त होओ यह यज्ञ तुम्हारे इच्छितकामनाओंका पूरनेवाला हो ॥१०॥

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयंतु वः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस यज्ञकरके तुम देवताओंको पूजके उनको बढावो वे तुम्हारे पूजे बढाये हुए देव तुम्हारा मनोरथ पूरते हुए तुमको बढावेंगे ऐसे परस्पर बढाते हुए तुम और देवता दोनों श्रेष्ठ कल्याणको प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

जो यज्ञ करोगे उसकरके वर्द्धित किये हुए देव तुमको इच्छित भोग निश्चयकरके देंगे उनकरके दिये हुए भोगोंको उनको दिये विना जो भोगेगा सो चोर है इससे चोरतुल्य दंड पावेगा॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥१३॥

देवादिपूजनरूप यज्ञका शेष याने उबरे हुये अन्नादिकके भोगनेवाले संत्पुरुष सर्वपापोंकरके मुक्त होते हैं और जो आपके ही वास्ते अन्नको पचाते हैं वे पापी पाप जैसा हो वैसा ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

अब दिखाते हैं कि, लोकदृष्टि और शास्त्रदृष्टिसे भी सबका मूल यज्ञ ही है सो ऐसे कि सर्वभूत प्राणी अन्नसे होते हैं अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे है सो लोकप्रसिद्ध देखनेमें आता है वर्षा यज्ञसे होती है यह शास्त्रप्रसिद्ध है सो यह श्लोक-" अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति ॥ आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः "॥ १ ॥ यज्ञकी उत्पत्ति यज्ञकर्ताके किये हुए कर्मसे होती है सो कर्म ब्रह्मसे होता है ऐसे जानो । ब्रह्म नाम प्रकृति इहां प्रकृतिका ही रूप शरीर ब्रह्म जानना तहां प्रथमश्रुतिः- "तदेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नं च जायते" तथा इहां भी कहेंगे "ममयोनि-र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इत्यादि प्रमाणोंसे यहां यही अर्थ है कि, प्रकृतिको ब्रह्म कहते हैं उसीका परिणाम यह शरीर इससे कर्म होता है यह शरीर अक्षरसमुद्भव याने अक्षर जो जीव उस करके सहित उत्पन्न होता है याने सजीव शरीर कर्मका कारण है जिससे कि, शरीर ही कर्म कारक है इसीसे सर्वगत याने सर्वाधिकार योग्य शरीर यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है याने यज्ञका मूल कारण है ऐसे यह ईश्वरकरके प्रवर्तमान इस चक्रको जो कर्माधिकारी किंवा ज्ञानकर्माधिकारी नहीं अनुवर्तता है याने यज्ञ विना शरीर पोषता है हे अर्जुन ! सो इंद्रियाराम पापआयुष्य वृथा जीवता है. जो चक्र कहा उसका खुलासा यह कि, अन्नसे शरीर अन्न वर्षासे, वर्षा यज्ञसे, यज्ञ कर्मसे, कर्म शरीरसे, शरीर अन्न ऐसे प्रवर्त्ते है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

कर्म न करनेसे किसको दोष नहीं सो कहते हैं सो ऐसा कि जो मनुष्य आत्मरति हो याने आत्मस्वरूपमें ही आनंद होय और आत्मस्वरूपसेही तृप्त हो अन्नादिकसे प्रयोजन नहीं और आत्मामें ही संतुष्ट हो उसके कर्तव्यता नहीं है उसके कर्म करनेसे न करनेसे भी यहां कुछ प्रयोजन नही है और इसके सर्वभूतप्राणियोंमें कोई ऐसा भी नहीं जिससे कुछ प्रयोजन हो तात्पर्य ऐसा मनुष्य कर्म करे अथवा न करे तो चिंता नहीं ॥ १७ ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

जिससे कि, ऐसेको दोष न हो तुमतो द्रव्य कुटुंबादिसे रत हो इससे कर्ममें आसक्त न भये हुए करनेयोग्य स्ववर्णोचित कर्मको निरंतर करो क्योंकि फलेच्छारहित कर्म करते २ पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अब यह दिखाते हैं कि, ज्ञानीको भी कर्म ही श्रेष्ठ है सो ऐसे जिससे कि, जनकादिक ज्ञानी भी कर्मकरके ही मोक्षको प्राप्त हुए तथा लोकसंग्रहको भी देखते हुए कर्म करनेको योग्य हो ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यहां कारण यह है कि, श्रेष्ठपुरुष जो जो आचरण करते हैं दूसरे लोग भी वैसाही आचरण करते हैं सो श्रेष्ठपुरुष जो प्रमाण करता है सर्वलोग भी वही प्रमाण करने लगते हैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थाऽस्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्माणि ॥ २२ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! तीनों लोकोंमें मुझको कुछ कर्त्तव्य नहीं है तथा नही प्राप्त ऐसा भी नहीं और प्राप्त हो ऐसा भी नहीं अर्थात् सर्व मेराही है तथापि कर्ममें निश्चयकरके वर्त्तमान रहता हूं याने लोगोंको सिखानेको कर्म करता रहता हूं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! जो कदाचित् सावधान भया हुआ मैं कर्ममें न वर्त्तमान रहूं तो निश्चयकरके सर्व मनुष्य मेरी ही रीतिपर चलने लगे याने वे भी निरर्थक मानके कर्म न करें ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४

जो कदाचित् मैं कर्म न करूं तो ये लोक भी ऐसे जानेंगे कि, जो कर्म श्रेष्ठ होता तो श्रीकृष्ण करते इससे कर्म तुच्छ है ऐसा जानके कर्म छोडके नष्ट होंगे तब मैं वर्णसंकरका कर्त्ता होऊंगा और इस प्रजाको मारनेवाला होऊंगा ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५॥

हे अर्जुन ! जैसे अविद्वान् लोग कर्ममें आसक्त भये हुए कर्म करते हैं तैसे विद्वान् आसक्त भया हुआ लोकसंग्रहको करनेकी इच्छा किये हुए कर्म करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

जो ज्ञानी है सो ज्ञानयोगयुक्त भयाहुआ कर्म करता २ जो कर्म

संगी अज्ञानी हैं उनको सर्व कर्मोंकी प्रीति उपजावे याने उनसे प्रशंसा करके कर्म करावे और बुद्धिभेद याने कर्ममें अश्रद्धा न करावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तंत इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे अर्जुन! सर्व कर्म प्रकृतिके सत्त्वादिगुणोंकरके किये हुए हैं जो अहंकारसे मूढचित्त है सो मैं कर्त्ता हूँ ऐसे मानता है और जो सत्त्वादिक गुण और उनके कर्मके तत्त्वका ज्ञाता है सो जानता है कि, सत्त्वादि गुण आपआपके कार्योंमें वर्त्तमान हैं ऐसा जानके आसक्त नहीं होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् २९॥

प्रकृतिके सत्त्वादिक गुणकार्योंकरके भूले हुए जो पुरुष वे सत्त्वादि गुणकर्मफलोंमें आसक्त होते हैं उन अल्पज्ञ मंदोंको सर्वज्ञ पुरुष कर्ममार्गसे चलायमान न करे ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

हे अर्जुन! अध्यात्म जो स्वभाव 'स्वभावोऽध्यात्म उच्यते' इस प्रमाणसे क्षत्रियका जो शूरत्वादिकस्वभाव है उसमें चित्तको लगाये हुए उस करके सर्व कर्म मुझमें अर्पण करके निराशी याने फलाशारहित निर्मम याने कर्त्तापनका ममत्व छोड़के कर्मबंधनभयरूप ज्वरसे छुटे हुए युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः।

श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य इस मेरे मतको नित्य धारण करते हैं और जो इसमें श्रद्धा ही रखते हैं और जो इसकी निंदारहित हैं वेभी कर्मबंधनोंसे छूटेंगे और जो इस मेरे मतकी निंदा करते हुए इसको ग्रहण नहीं करते हैं सर्वज्ञान विषयमें मूढ उन अज्ञानियोंको नष्ट हुए जानो ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

जो ज्ञानवान् है सोभी आपके जातिस्वभावके सदृश चेष्टा करता है अज्ञ करे तो शंकाही क्या है; सब भूत प्राणी आपके जातिस्वभावको अनुसरते हैं यहां निग्रह क्या करेगा ॥ ३३ ॥

इंद्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

जब कर्म स्वभावहीसे है और उसका निग्रह नहीं तब उपाय क्या सो कहते हैं कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय इनके निमित्त रागद्वेष युक्त हैं उनके वश न होना क्योंकि वे इसके शत्रु हैं याने जीवके बंधनकारक राग द्वेष ही हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

जो रागद्वेषके वश होनेसे स्वधर्मका त्याग और परधर्ममें निष्ठा होती है उसका निवारण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं सो ऐसे कि नेत्रादि इंद्रियोंकी प्रीतिसे अर्जुन स्वधर्मोंको त्यागने लगे कि इन स्वजनोंको देखके मेरे दया आती है इससे युद्ध न करूंगा, भीख

माँग खाऊँगा सो निवारते हैं जैसे कि, श्रेष्ठकर्मारंभ अन्यके धर्मसे स्वधर्म न्यून भी कल्याणकारक है स्वधर्ममें मरना कल्याणदायक है परधर्म मरनेसे भी अतिभयकारक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन भगवान्‌से पूंछते हैं कि, हे वृष्णिवंशोत्पन्न कृष्ण ! आपने कहा स्वधर्म ही श्रेष्ठ है अन्यधर्म भयदायक है ऐसा जो जानता भी है और स्वधर्मपूर्वक ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होके विषय भी त्यागे हैं तोभी फिर यह पुरुष विषयइच्छा न करता भी बलात्कार विषयोंमें युक्त किया सरीखा किसका प्रेरा हुआ पापोंको करता है ॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनके श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि, जो यह रजोगुणसे प्रगट काम याने कामना सो बडापापी अतिविषय सेवनरूप बडे आहारका करनेवाला यही क्रोधरूप होता है इसको इस ज्ञान विषयमें वैरी जानो ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि धुवाँकरके ढकता है और मलकरके दर्पण ढकता है जैसे गर्भ जराकरके तैसे यह ज्ञान उस कामनाकरके ढका है ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कुंतीपुत्र ! इस ज्ञानीके नित्य वैरी दुःखसे भी. न भर सके इससे अपरिपूर्ण इच्छाचारी ऐसे इस कामकरके ज्ञान ढक रहा है काम याने विषयवासना ॥ ३९ ॥

इंद्रियाणि मनोबुद्धिरस्याऽधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

जब शत्रुको जीतना हो तब प्रथम उसके स्थान स्वाधीन करना इससे इस कामनाके स्थान कहते हैं सो वे ये कि, सर्व इंद्रियां मन और बुद्धि ये कामनाके स्थान कहलाते हैं-यह इनहींकरके ज्ञानको आच्छादित करके जीवको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! तिससे तुम प्रथम इंद्रियोंको संयममें करके स्वरूप ज्ञान और विज्ञान जो भक्ति इनके नाशनेवाले इस काम पापीको निश्चयं मारो ॥ ४१ ॥

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

जो ज्ञानके विरोधी हैं उनमें विद्वान् लोग इंद्रियोंको प्रबल कहते हैं, इंद्रियोंसे मन प्रबल है और मनसे बुद्धि प्रबल है और जो बुद्धिसे प्रबल है सो वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

हे महाभुज अर्जुन! ऐसे बुद्धिसे पर आत्माको जानकर और स्वेच्छाचारी दुःसह कामनारूप शत्रुको जानके फिर मनको बुद्धि करके रोकके इस शत्रुको मारो ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसाद-
विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां
तृतीयाऽध्यायप्रवाहः ॥ ३ ॥

प्रकृतिसंसर्गी मुमुक्षु सहसा ज्ञानयोगाधिकारी नहीं हो सकता है इससे तीसरे अध्यायमें उसको कर्म करना ही उपदेश तथा ज्ञानयोगिको भी कर्तृत्वत्यागपूर्वक कर्म करना ही उत्तम कहा. और जनसंग्रहके वास्ते भी कर्म करनाही श्रेष्ठ कहा. अब जो जगत् उद्धारके वास्ते मन्वंतरके आदिमें इसी कर्मयोगका उपदेश किया था उसीको इस चौथे अध्यायमें दृढ करते हैं' ज्ञान योग भी इसीके अंतर्गत है; इससे इसकी ज्ञानयोगाकारता दिखाके कर्मयोगका स्वरूप और भेद तथा उसमें ज्ञानांशकी प्रधानता तथा इसी प्रसंगसे भगवदवतारनिश्चय भी कहते हैं–

श्रीभगवानुवाच।

इमं [illegible]वस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
वि[illegible]वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्री[illegible]भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि जो यह योग मैंने तुमसे कहा सो [illegible]वल अब युद्धोत्साह बढानेको तुम्हारेसे ही नहीं कहा इसके[illegible]पकी आदिमें भी कहा है सो सुनो । मैं प्रथम इस अ[illegible]योगको सूर्यसे कहता भया सूर्य वैवस्वतमनुसे कहते भये[illegible] इ[illegible]कसे कहते भये ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

ऐसे ही परंपरासे प्राप्त इसको राजऋषि जानते भये हे परंतप! सो यह योग इस समयमें बहुत काल करके नष्ट भया था ॥ २ ॥

स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

सोई यह पुरातन योग मैंने तुमसे आज कहा क्योंकि तुम मेरे भक्त और सखा हो यह उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

ऐसे सुनिके अर्जुन कहने लगे कि, तुम्हारा जन्म अभी भया विवस्वान्का जन्म प्रथम भया तुम आदिमें उनको कहते भये ऐसे इसको हम कैसे जानें? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चा[illegible] ।
तान्यहं वेद्मि सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप [illegible] ॥ ५ ॥

अर्जुनके प्रश्नका श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं इ[illegible] आपके अवतारका भी प्रयोजन कहेंगे सो ऐसे कि, हे परंतप [illegible] शत्रुनको संतापित करनेवाले अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत [illegible] व्यतीत भये हैं उन सबको मैं जानता हौं तुम नहीं जानते [illegible] ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरो[illegible] ।
प्रकृतिं स्वा[illegible]धिष्ठाय संभवाम्यात्ममाय[illegible] ॥

यहां कारण यह कि, मैं अविनाशी सर्वांतर्यामी हौं सर्वभूतोंका भी ईश्वर भयाहुआ तथा अजन्मा भया हुआ भी मेरा स्वभाव जो सौशील्य वात्सल्य शरणागतरक्षकत्व इत्यादिक उसको आश्रित करके याने उस स्वभावहीसे अपने ज्ञान सहित अवतार लेता हूं जीवको ज्ञान नहीं रहता है, मेरा ज्ञान अखंड है मैं केवल स्वभक्तस्वसेतुरक्षणार्थं अवतार लेता हूं इसका कारण अगाडीके श्लोकोंमें है ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत ! जब जब निश्चयपूर्वक धर्मकी हानि अधर्मकी वृद्धि होती है तब मैं रूपको धारण करता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जो स्वस्वभावसे अवतार कहा वह स्पष्ट करते हैं-धर्महानि अधर्मवृद्धि देखके मैं साधुओंके संरक्षणके वास्ते और दुष्टोंके विनाशके वास्ते युग युगमें धर्मस्थानपके लिये अवतार लेता हूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥९॥

हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य याने अप्राकृत नहीं हैं ऐसे जो निश्चय करके जानता है सो देहको त्यागके फिरके जन्म नहीं लेता है मुझको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

व्यतीत भये हैं सांसारिक अनुराग भये और क्रोध जिनके तथा सर्वत्र मुझको जानते हैं और जो मेरे ही आश्रित हैं ऐसे बहुत मेरे स्वरूपज्ञानरूप तप करके पवित्र हुए भये मेरी सदृशताको प्राप्त भये हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! सर्व मनुष्य मम वर्त्म याने जो जो सकाम निष्काम वेदमें मार्ग कहे हैं वे मेरे ही कहे मार्ग हैं, उन्हीं मार्गोंके आश्रित कर्म करते हैं तहां जो मुझको जैसे भजंते हैं मैं उनको वैसे ही भजता हूं याने जो सकाम इंद्रादिरूप मुझको भजते हैं उनको "तदेवाग्निस्तत्सूर्यः' अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता" इत्यादि प्रमाणसे इंद्रादिलोक पुत्रादि कामना देता हूं और जो निष्काम मुझको सर्वेश्वर जानके सब कर्म 'कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्मवा' इत्यादि प्रमाणसे मेरे अर्पण करते हैं उनको मेरे स्वरूपवैभवको प्राप्त करता हूं ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

जो कर्मोंकी सिद्धिकी इच्छा करते भये इस लोकमें देवताओंका यजन करते हैं उनकी निश्चयकरके शीघ्र मनुष्यलोकमें कर्मसे उत्पन्न सिद्धि होती है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुणकर्मविभागसे जैसे सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण उनके शमदमादि कर्म सत्त्वरजः प्रधान क्षत्रिय उनके शूरत्वादिकर्म रजस्तमःप्रधना

वैश्य उनके कृषिवाणिज्यादि कर्म तमःप्रधान शूद्र उनके परिचर्यात्मक कर्म ऐसे गुणकर्मविभागकरके चातुर्वर्ण्य यह संसार मैंने सृजा है उसका अविनाशी कर्त्ता भी मेरेको अकर्त्ता जानो ॥१३॥

न मां कर्माणि लिम्पंति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां यो ऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

जो प्रथम कहा कि,मुझको अकर्त्ता जानो उसका कारण कहते हैं सो ऐसा, कि, मुझको कर्मफलमें इच्छा नहीं इससे मेरे कर्म नहीं लिप्त होते हैं ऐसा मुझको जो जानता है सो कर्मोंकरके नहीं बँधता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वसमयके मनुइत्यादिक मुमुक्षुजनोंने भी ऐसे जानके कर्म कियाहै तिससे तुम पूर्व मुमुक्षुओंकरकेकिये हुए कर्मकोही करो १५.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६

कर्म क्या है और अकर्म क्या है ऐसे इस विषयमें कविजन भी मोहते भये सो कर्म मैं तुमको कहूँगा जिसको जानके संसारसे मुक्त होगे ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

जिसवास्ते कि कर्म याने करनेयोग्य कर्म उसका रूपभी जानना चाहिये और विकर्म जिस एक कर्ममें विविध प्रकार है उसका रूप भी जानना चाहिये और अकर्म जो निश्चयात्मकबुद्धिकरके केवल ईश्वराराधनार्थ निष्काम कर्म उसका भी रूप जानना चाहिये इसवास्ते कर्मकी गति दुर्गम है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अब कर्म और अकर्मका स्वरूप जानना कहते हैं–जो प्रारंभित कर्ममें अकर्म याने आत्मज्ञान देखे याने इस निष्कामकर्मही से ज्ञान होगा इससे यह ज्ञान ही है और जो मनुष्य अकर्म जो आत्मज्ञान उसमें कर्म याने यह कर्मसे भया कर्म ही है ऐसा देखने-वाला मनुष्य मनुष्योंमें बुद्धिमान् है सो योगी और सोई सर्व कर्मोंका करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

जो कर्म प्रत्यक्ष कर रहा है उसकी ज्ञानाकारता कैसी होगी सो कहते हैं सो ऐसी कि, जिसके सर्व लौकिक वैदिक कर्मोंके आरम्भ कामना संकल्प रहित हैं ज्ञानरूप अग्निकरके दग्ध भये हैं बंधक कर्म जिसके उसको विद्वान् जन पंडित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

जो कर्मफलका संबंध छोडके निरंतर आत्मस्वरूपमें ही तृप्त नश्वर संसारके आश्रयरहित कर्ममें प्रवृत्त भी है तो भी सो कुछ नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जो कर्मफलकी आशारहित चित्त और मन जिसका संयममें हो जिसने परमात्मप्रीति विना और सर्व उपासना त्यागी हो सो

केवल शरीरसंबंधी कर्मको करता हुआ कर्मबंधनरूप पीडाको नहीं प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो आपही आप मिले इतनेही लाभसे संतुष्ट हो और जो सुख दुःख लाभालाभ जय पराजय हर्ष शोक इत्यादिक द्वंद्वों करके रहित होय मत्सर जो दूसरेका सुख न सहना उस करके रहित कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें सम बुद्धि सो कर्म करके भी नहीं बंधन पावे ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

निवृत्त भया है आत्मानंद विना संग जिसका और संसारवास-नासे मुक्त है और आत्मज्ञानमें अवस्थित है चित्त जिसका सो जो यज्ञके अर्थ कर्म करे तो उसके बंधनकारक सर्व प्राचीन कर्म नाश होते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

निष्काम कर्मसे ज्ञान होता है इस भेदसे कर्मकी ज्ञानाकारता कही अब परमात्माके अनुसंधानसे उसी निष्काम कर्मकी ज्ञाना-कारता कहते हैं-सो ऐसे कि, जिसकरक हव्य अर्पण करते हैं वह स्रुवादिक वस्तु ब्रह्म है याने ब्रह्मका ही काय है घृतादिक हव्य भी ब्रह्म ही है ब्रह्मरूप अग्निमें वह ब्रह्मरूप हव्य ब्रह्मरूप होता करक होमा जाता है ऐसे यह सर्व ब्रह्मरूप है उस ब्रह्मकर्मनियम करके ब्रह्म ही प्राप्त होने योग्य है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

ऐसे कर्मयोगकी ज्ञानाकारता कहके अब कर्मयोगके भेद कहते हैं-अपरे 'अकारो वै विष्णुः' इस श्रुतिप्रमाणसे जो विष्णुपरायण हैं वे योगी दैव यज्ञ याने प्रतिमापूजनरूप यज्ञ करते हैं इनसे और भी ऐसे ही योगी ब्रह्मात्मक अग्निमें यज्ञसाधन सामग्रीकरके हवनात्मक यज्ञमेंही हवन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्ये इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

और कितने योगी श्रोत्रादिक इंद्रियोंको संयमरूप अग्निमें होमते हैं अर्थात् श्रोतादिकोंको हरिकीर्ति श्रवणादिकहीमें युक्त करते हैं और कितनेक शब्दादिक विषयोंको इंद्रिय रूप अग्निमें होमते हैं याने हरिकीर्त्तन विना और श्रवणादिक नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

और कितने योगी सर्व इंद्रियनके कर्मोंको और प्राणोंके कर्मोंको ज्ञान करके प्रदीप्त ऐसे मनके संयमरूप अग्निमें होमते हैं अर्थात् मन करके इंद्रिय प्राण कर्मवृत्तियोंको संसारविषयसे निवारण करके आत्मज्ञानमें लगानेका यत्न करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ २८ ॥

और कितने योगी द्रव्यसे यज्ञ करते हैं. याने दानादिक करते हैं कितनेक उपवासादिकरूप यज्ञ करते हैं. तैसे ही और कितनेक पुण्य क्षेत्रादि वास रूप योग करतेहैं और कितने दृढव्रती यती याने यत्नशील वे वेदाध्ययन वेदार्थविचाररूप यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टाऽमृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१

और कितनेक कर्मयोगी प्रमाणसे आहार करनेवाले जैसे कि, आधा पेट अन्नसे भरै चौथाई जलसे और चौथाई वायुसंचारनिमित्त खाली राखै ऐसे और प्राणायामपरायण हैं ऐसे योगी अपानमें प्राणको होमते हैं याने पूरक करते हैं; ऐसे ही कितनेक प्राणवायुमें अपानको होमते हैं याने रेचक करते हैं ऐसे ही और प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोकके प्राणोंको प्राणनहीमें होमते हैं याने कुंभक करते हैं; इतने ये सर्व भी यज्ञके जाननेवाले यज्ञकरके पापरहित यज्ञहीका शेष अमृतरूप अन्नके खानेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं हे कुरुवंशिनमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ नहीं करता है उसको यह लोक भी नहीं है और परलोक तो कैसे होयगा ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदमें विस्तारसे कहे हैं उन सबको कर्मज जानो याने वे कर्मसे ही होते हैं, ऐसे जानके कर्म करके मुक्त होवोगे ॥ ३२ ॥

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, कारण कि, द्रव्य-

यज्ञका भी फल ज्ञान ही है हे पार्थ ! फलसहित सर्व कर्म ज्ञानमें समाप्त होता है; याने इस ज्ञानहीके वास्ते यज्ञ करते हैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

सो ज्ञान तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुमको उपदेशेंगे तुम उनकी सेवा करके और सत्कारपूर्वक नमस्कार करके उनसे प्रश्न करके जानो इहां श्रीकृष्ण भगवान्‌ने केवल ज्ञानी जनोंकी प्रशंसा निमित्त यह वाक्य कहा है और "अविनाशि तु तद्विद्धि" इहांसे लेके " एषा तेऽभिहिता सांख्ये" इहां पर्यंत ज्ञान उपदेश तो कर ही चुके हैं ॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

हे पांडुपुत्र ! जिस ज्ञानको जानिके ऐसे मोहको फिर नहीं प्राप्त होगे. जिस ज्ञानकरके सर्व भूतप्राणिमात्रको आप सदृश देखोगे. जैसे कि, प्रकृतिसे भिन्न ये परज्ञानाकारतासे सर्व समान हैं आप सदृश देखे पीछे फिर मेरे समान देखोगे याने ज्ञान प्राप्त भये जीव मेरी समताको प्राप्त होते हैं सो आगे कहेंगे भी. "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः " यहां ब्रह्मसूत्र भी प्रमाण है " भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" ऐसे ही श्रुति भी प्रमाण है "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमां शांतिमुपैति" इत्यादि प्रमाणोंसे नाम रूप रहित याने सूक्ष्मावस्थामें आत्मा और परमात्माकी स्वरूप समता निश्चय होती है ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

जो कि, सर्व पापियोंसे भी तुम बडे पापकारक होउगे तो भी इस ज्ञानरूप ही नौका करके सर्व दुःखसमुद्रको तरोगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इंधनको समग्र भस्म करता है तैसे विज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्म बंधनको समग्र भस्म करता है३७

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

इस लोकमें निश्चयकरके ज्ञान सदृश पवित्र नहीं है उस ज्ञानको कुछ काल कर्म करते करते कर्मयोगसे सिद्ध भया हुआ आपहीमें आपही प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

ज्ञानप्राप्तिमें लगा हुआ इंद्रियोंको संयममें किये हुए श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है उस ज्ञानको पाके थोडे ही कालमें परम शांतिको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

जो अज्ञान है और ज्ञानप्राप्तिमें श्रद्धाको भी नहीं धारण किये हैं और मनमें संशय रखता है सो नष्ट भ्रष्ट संसारमें भ्रमता है. जिसके मनमें संशय है उसको यह लोक सुखदायक नहीं है, परलोक भी नहीं है उसको कहीं भी सुख नहीं है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

हे अर्जुन ! परमेश्वराराधनरूप जो निष्काम कर्म योग उस योग करके परमात्माके अर्पण किये हैं कर्म जिसने और ज्ञान करके

संछिन्न हुए हैं संशय जिसके ऐसे स्थिरचित्त ज्ञानीको कर्म नहीं बंधन करते हैं ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यास-
योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! इससे जो अज्ञानसे उत्पन्न तुम्हारे हृदयमें स्थित ऐसे इस अपने संशयको ज्ञानखड्गसे छेदन करके उठो और कर्मयोगमें प्रवृत्त होओ याने क्षत्रियका कर्म युद्ध करो४२

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां
श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यांचतुर्थोऽध्यायप्रवाहः ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीकृष्णसे अर्जुन पूँछते हैं कि, हे कृष्ण ! कर्मोंका संन्यास जो ज्ञानयोग उसको और फिर कर्मयोगको कहते हो इन दोनोंमें जो निश्चय किया भया श्रेष्ठ होय उसीको कहो. जैसे कि, दूसरे अध्यायमें कहा कि मुमुक्षु प्रथम कर्म करके अन्तःकरण शुद्ध हुए पर ज्ञानयोग करके आत्मदर्शनका उपाय करे तीसरे चौथेमें ज्ञानीको भी कर्म करनाही श्रेष्ठ कहा, ऐसे दोनों कहते हो जो इन दोनोंमें श्रेष्ठ हो सोई कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

जब अर्जुनने प्रार्थना की तब श्रीकृष्ण भगवान् बोले सो ऐसे कि संन्यास जो कर्मका त्याग और कर्मयोग ये दोनों कल्याणकारक हैं उनमेंसे भी कर्मके त्यागसे कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! जो न कोई वस्तुसे द्वेष करे, न चाहना करे सो सुख दुःखादि द्वंद्वरहित नित्य संन्यासी जानना वह सुखपूर्वक निश्चय बंधनसे मुक्त होता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

जो मूर्ख हैं वे सांख्ययोगोंको याने ज्ञान कर्मोंको न्यारे कहते हैं पंडित नहीं कहते हैं. इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी तरहसे स्थित रहाहुआ दोनोंके फलको पाता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ५॥

जो स्थान ज्ञानकरके प्राप्त होता है सोई कर्मकरके भी प्राप्त होता है इससे ज्ञानको और कर्मको जो एक जानता है सो जानता है याने विद्वान् है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! यह संन्यास कर्म विना प्राप्त होनेको दुर्गम है याने होनेको ही नहीं. जो कर्मयोग युक्त आत्मज्ञानमें मन लगाये हैं सो थोडेही कालमें ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जो कर्मयोगयुक्त है याने निष्काम कर्म करता है और वाणी जिसकी शुद्ध है याने वाणीसे हरिकीर्त्तन करता है और मन शुद्ध है याने मनसे हरिस्मरण करता है और जितेंद्रिय है याने इंद्रियविषयको श्रेष्ठ नहीं जानता है और सर्व भूतप्राणिका आत्मा अंतर्यामीमें मन है आत्मा जिसका सो पुरुष कर्म करता हुआ भी नहीं लिप्त होता है ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ ८ ॥ ९ ॥

इंद्रियनके विषयोंमें इंद्रियां वर्तमान रहती हैं ऐसे धारण करे हुए तत्त्वज्ञानी, कर्मभोगी देखता, सुनता, स्पर्शता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, छोडता, पकडता, नेत्रखोलता मीचता हुआभी मैं कुछ भी नहीं करता हूं ऐसे मानता है ॥८॥९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

जो शरीरमें याने शरीरस्थ इंद्रियोंमें कर्मोंको धारण करके याने कर्म करनेवाली इंद्रियां हैं ऐसे जानके कर्मफलासक्तिको त्यागके कर्म करता है सो पापकरके नहीं लिप्त होता है, जल करके कमल पत्र सरीखा ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

जो योगी हैं वे फलसंग त्यागके आत्मशुद्धिके लिये यानें आत्मगत प्राचीन कर्मबंधन छूटनेके वास्ते शरीरकरके, मनकरके, बुद्धिकरके, केवल इंद्रियोंकरके भी कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

युक्त याने आत्मज्ञानयोगयुक्त पुरुष कर्मफलको त्यागके ईश्वरनिष्ठ शांतिको प्राप्त होता है जो आत्मज्ञानयोगरहित है सो यथेष्ट करणकरके फलविषे आसक्त हुआ ऐसा जा जाव सो बंद्ध होता है१२

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

वशी याने जिसका चित्त वश है ऐसा देहधारी जीवसो नवद्वारका पुर जो देह उसमें मनसे कर्मोंको स्थापित करके न करता न कराता हुआ सुख जैसे हो तैसे ही रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

प्रभु याने अविनाशी आत्मा लोक जो देवादिकशरीर तिसका न कर्त्तापन न कर्म न कर्मफलके संयोगको सिरजता है क्योंकि, यह स्वभाव याने अनादिकाल प्रकृतिसंसर्गकी वासना प्रवृत्त है ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः ॥ १५ ॥

जैसे कि, कर्तृत्व और कर्मोंको नहीं उत्पन्न करता है इसीसे यह जीवात्मा किसी शरीरसंबंधी पापको भी नहीं ग्रहण करता है और सुकृतको भी नहीं ग्रहण करता है क्योंकि जिनका ज्ञान

अज्ञानकरके ढक रहा है उस करके वे जीव मोहको प्राप्त होते हैं याने अज्ञानकरके देहादिकमें आसक्ति और उससे दुःख होता है ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

जिनका आत्मसंबंधी ज्ञानकरके वह अज्ञान नष्ट हुआ है उनका वह श्रेष्ठ ज्ञान सूर्यसदृश प्रकाश करता है याने वे संसारदुःखरहित मुक्त हैं ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

उस आत्मज्ञानहीमें है बुद्धि जिनकी उसीमें है मन जिनका उसीमें है निष्ठा जिनकी और वही है श्रेष्ठ स्थान जिनका इस तरहसे ज्ञानकरके नष्ट हुये हैं मनके विकार जिनके वे पुरुष मुक्तिको पावते हैं ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्या और विनय युक्त ब्राह्मणमें, गऊमें, हाथीमें, और कुत्तेमें और चांडालमें भी पंडितजन समदर्शी होते हैं याने आत्माको आप सदृश जानते हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन ऐसी समतामें स्थित है उन्होंने यहां ही संसार जीता है. जिस वास्ते कि, ब्रह्म निर्दोष सर्वत्र समान है इसीसे वे ब्रह्मप्राप्ति निमित्त स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

प्रिय वस्तुको पायके हर्षना नहीं और अप्रियको पाके व्याकुल न होना; ऐसा स्थिरबुद्धि, विचारशील ब्रह्मका ज्ञाता ब्रह्म प्राप्तिके निमित्त स्थित है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

जो शब्दादिक विषयोंमें अनासक्त भया हुआ जो आत्मामें सुखको पावता है सो ब्रह्मप्राप्ति उपाय चित्तवाला पुरुष अक्षय सुखको पावता है याने मोक्ष पाता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कुंतीपुत्र ! जो शब्दस्पर्शादिक भोग हैं वे दुःखके कारण आद्यंतवंत याने होते जाते रहते हैं अर्थात् अल्पसुख है इस निश्चयसे उनमें पंडितजन नहीं रमते हैं ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य कामक्रोधके वेगको शरीरसे निकलनेके प्रथम उस वेगको सहनेको सकता है सो योगी है सो मनुष्य इसी लोकमें सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो आत्मामेंही सुखी और आत्ममेंही है विश्राम जिसको तैसेंही जो अंतर्ज्योति याने आत्मज्ञान ही करके प्रकाशित है सोही योगी ब्रह्मप्राप्ति उपाय तत्पर ब्रह्मवत् मुक्तिको प्राप्त होताहै ॥ २४ ॥

लभंते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

जिनके लाभ अलाभ सुख दुःखादिक दो दो उपद्रव नष्ट हुए हैं जिनका मन ईश्वरमें लगा है और सर्वभूत प्राणिमात्रके हितमें रहते हैं इससे उनके पाप क्षीण हुए हैं ऐसे ऋषिजन ब्रह्मसमान मुक्तिको पाते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जो कामक्रोध रहित हैं और ईश्वरप्राप्तिके यत्न करनेवाले हैं और चित्त जिनके वशमें हैं ऐसे आत्मज्ञानियोंको सर्व प्रकारसे ब्रह्मसुख वर्तमान हो रहा है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८॥

बाह्य इंद्रियोंके स्पर्श जो शब्दादिक विषय उनको बाहर याने त्याग करके फिर भौंहोंके मध्यमें दृष्टिको करके नासिकाके भीतर ही संचार करै ऐसे प्राणापानोंको सम करके जो मुनि याने मननशील पुरुष इंद्रिय मन और बुद्धिको वश करै, मोक्षमेंही आसक्त, इच्छा, भय और क्रोध करके रहित हो सो सदा मुक्त ही है ॥ २७ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छंति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अब और भी अति सुगम मुक्तिके उपाय कहते हैं. सर्व यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सर्व लोकोंका महेश्वर याने लोकेश्वरोंका भी ईश्वर सर्वभूतप्राणिमात्रका सुहृद् ऐसा मुझको जानके भी मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथ-
प्रसादविरचितायां गीतामृततरंगिण्यां
पंचमाऽध्यायप्रवाहः ॥ ५ ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

कर्मयोग कहके अब ज्ञानकर्मसाध्य आत्मदर्शनरूप योगाभ्यास कहते हैं. तहां कर्मयोगकी अपेक्षारहित योगसाधनत्व दृढ करनेको ज्ञानाकार कर्मयोगको योगशिरोमणि कहते हैं-सो ऐसे कि, जो कर्मफलको न चाहता हुआ स्ववर्णाश्रमोचित करने योग्य कर्मको करता है सो संन्यासी है और योगी है. जिसने अग्निकर्मको त्यागा है सो संन्यासी और योगी नहीं है और जिसने क्रियाकर्मको त्यागा है सो भी संन्यासी योगी नहीं है ॥ १ ॥

"यहां एक श्रीकृष्णका अभिप्राय और भी दीखता है, कलियुगमें संन्यासका निर्वाह होगा नहीं क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि चंचल होगी. सो देखनेमें भी आता है कि, जो घर छोडते हैं तो संन्यासी होके मठ बाँधके व्यापार करते हैं. जो स्त्रीविवाहित नहीं तो परस्त्रीगमन करते हैं. पुत्रोंकी जगह शिष्य करते हैं; ऐसे ही और भी सामान्य गृहस्थोंसे अधिक रखके केवल प्रपञ्चरत होते हैं इससे श्रीकृष्णने निष्कामकर्म कर्त्ताहीको संन्यासी योगी कहा है और अग्निकर्म तथा क्रिया त्यागनेका निषेध किया है ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

अब कहे हुए कर्मयोगमें ज्ञान भी दिखाते हैं. हे पांडुपुत्र! जिसको संन्यास कहते हैं उसको अभेदकरके योग जानो जिसवास्ते कि, कर्मफलसंकल्प त्यागे विनां कोई भी योगी नहीं होता है. अर्थात् कर्मफलको ईश्वरार्पण किये विना योगी संन्यासी होता नहीं. जो कर्मफलको ईश्वरार्पण करता है वही योगी और संन्यासी है ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानकी प्राप्ति चाहनेवाले मनन शीलको ज्ञानप्राप्ति कारण कर्म कहा है, उसी ज्ञान प्राप्त हुएको मुक्तिकारण संकल्पविकल्पत्यागपूर्वक कर्म ही कहा है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जब न इंद्रियोंके विषयोंमें न कर्मोंमें आसक्त हो तब सर्वसंकल्पोंका त्यागी योगारूढ कहाता है इससे कर्म करना आवश्यक है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

ऐसे अपने वश मन करके अपना उद्धार करना, अपना अवसाद याने घात याने अधोगति न करना, कारण कि, अपना मन ही अपना मित्र है और वह मन ही अपना शत्रु है ॥ ५ ॥

बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने बुद्धिकरके निश्चय मन जीता है उस जीवात्माका मन मित्र है और जिसने मन नहीं जीता है उसका मन शत्रुत्वमें शत्रु सरीखा होता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शीत, उष्ण, सुख और दुःखमें तैसे ही मान अपमानोंमें जीता है मन जिसने ऐसे शांतकी बुद्धि अतिशय परिपूर्ण रहती है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

ज्ञान जो आत्मज्ञान, विज्ञान जो विशेष ज्ञान याने अनात्म आत्मविवेक इन करके जिसका मन तृप्त हो कूटस्थ याने सर्व शरीरोंमें आत्माको समान जानके निर्विकार इसीसे जितेंद्रियत्वसे जो ठीकरी, पत्थर और सोना इनको सम जान रहा है ऐसा योगी युक्त याने आत्मदर्शनयोगयुक्त कहलाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद् जो प्रत्युपकार विना हितकारक, मित्र परस्पर उपकारी, अरि शत्रु, उदासीन जो प्रीति वैर रहित, मध्मस्थ जो सर्वकाल प्रीति वैर समान, द्वेष्य जो सदा ईर्षा करता हो सो, जो सदा हितेच्छु सो बंधु, जो धर्मशील सो साधु और जो पापशील सो पापी इन सबोंमें भी जो समबुद्धि होय सो श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एक ही बैठा, स्ववश चित्त मनवाला, सांसारिक आशारहित, आत्मा विना परिग्रहरहित ऐसा योगी एकांतमें बैठा हुआ मनको निरंतर परमात्मामें लगाता रहे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

अब योगाभ्यासमें आसन नियम कहते हैं-जैसे कि, पवित्र स्थानमें न अति ऊंचा, न अतिनीचा, कुशासनपर मृगचर्मादिक उसपर वस्त्र ऐसा और थिर अपना आसन बिछाके उस आसनपर बैठके मनको एकाग्र करके चित्त और इंद्रियोंके कर्म स्ववश किये हुए अपना बंधन छूटनेके वास्ते योगको करे ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

अब बैठनेका नियम कहते हैं-काय जो मध्यशरीर शिर और ग्रीवा इनको अचल थिर और सम राखे हुए अपने नासिकाग्रको देखके और और ओर न देखता हुआ प्रशांतचित्त भयरहित ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित मुझमें चित्त लगाये हुए मनको नियमित करके आत्मनिष्ठ पुरुष मुझमें लीन भया हुआ बैठा रहे ॥ १३ ॥ १४ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

ऐसे नियममें मन है जिसका ऐसा योगी ऐसे ही सर्वकालमें

मनको मुझमें लगाता हुआ आनंद है परम जिसमें ऐसी मेरे सदृश शांतिको पाता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अब योगीके आहारादिकोंका नियम कहते हैं-जैसे कि, हे अर्जुन! जो अति भोजन करता है उसका योग नहीं सिद्ध होता है और जो कुछ भी भोजन न करै उसका भी योग नहीं सिद्ध होता है और अतिसोनेवालेका योग नहीं सिद्ध होता है, अतिजागनेवालेका भी योग नहीं सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

जो आहार और स्त्रीप्रसंग प्रमाणमें करेगा "आहारका प्रमाण यह कि, आधा पेट अन्नसे और चौथाई जलसे भरके चौथाई पवन-संचारके वास्ते खाली रखे. स्त्रीप्रसंगप्रमाण यह कि, अतिकामकी इच्छा होनेसे स्त्रीसंग करे, जो कोई यहां शंका करे कि, योगीको तो ब्रह्मचर्य कह आये हैं;जैसे कि,इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कहा है सो सत्य है,परंतु"ऋतौ भार्यामुपेयात्" इस श्रुतिप्रमाणसे ऋतु-समयमें स्त्रीप्रसंग करनेमें भी एक ब्रह्मचर्य है, और भी कहा है कि, "इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ कर्मेंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन" इत्यादि तथा कहेंगे कि, "अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्" तो जो योगी स्त्रीप्रसंग न करेगा तो उसके कुलमें जन्म कैसे होगा ?इत्यादि प्रमाणोंसे योगी स्त्रीप्रसंग प्रमाणसे करे यह विहारशब्दका अर्थ सिद्ध है. ऐसेही-कर्ममें भी चेष्टा प्रमाणसे ही करे अति परिश्रम नकरना यहाँ भागवतका प्रमाण देते हैं"सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः" ऐसा द्वितीय स्कंधके दूसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहा है ऐसेही जो प्रमा-

णसे सोवे और प्रमाणसे ही जागे उसका दुःखनाशक योग सिद्ध होतां है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव तिष्ठते
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब आत्मामेंही अतिनिश्चल चित्त लगा रहता है तब सर्व कामनाओंसे निःस्पृह हुआ भया वह पुरुष युक्त ऐसा कहाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

जैसे निवातस्थानमें धरा हुआ दीपक नहीं हिलता तथा डोलता है तैसे ही वश है चित्त जिसका ऐसे योगको करनेवाले योगीके मनकी जो उपमा सोई कही है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगसेवन करके विषयोंसे रोका हुआ चित्त जहां विश्रामको प्राप्त होतां है और जहां बुद्धिकरके आत्मस्वरूपका निश्चय करता हुआ मनमें ही संतुष्ट हो ॥ २० ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥२१॥

जो इंद्रियोंके जाननेमें न आवे, बुद्धिकरके ग्रहण करनेमें आवे ऐसा जो अत्यंत सुख उसको जिस योगमें स्थित भया हुआ यह पुरुष जानता है ऐसे निश्चय और फिर आत्मस्वरूपसे न चलायमान हो ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥

जिसको पाके फिर उससे अधिक श्रेष्ठ लाभ नहीं मानता है जिसमें प्रवृत्त भारी भी दुःखकरके नहीं घबराता है ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उसको दुःखसंयोग वियोगकारक योगनामक जानना सो योग निर्विकल्प चित्तसे निश्चयकरके करने ही योग्य है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ २५ ॥

स्पर्शजन्य और संकल्पज ऐसे भेदसे कामना दो प्रकारकी है, उनमें स्पर्शज शीत उष्णादिक, संकल्पज पुत्रवित्तादिक इनमें स्पर्शजका त्याग स्वरूपसे नहीं हो सकता इससे संकल्पज सर्व कामनाओंको समग्रतासे मनसेही त्यागके सर्व इंद्रियोंको सर्वत्रसे नियमित करके विवेकशुद्ध बुद्धि करके धीरे धीरे विश्रामको प्राप्त होना फिर मनको आत्मस्वरूपमें स्थिर करके आत्मस्वरूप विना किसीको भी न चिंतवन करना ॥ २४ ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यह मन चंचल है इसीसे आत्मस्वरूपमें स्थिर नहीं रहता है. सो यह मन जहां जहां लगे वहांवहांसे इसको फिराके आत्मस्वरूपमें ही लगाना ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

कारण कि, जिसका मन आत्मस्वरूपमें स्थिर है उसीसे उसका रजोगुण भी नष्ट हुआ है, उससे वह निष्पाप है, उससे वह अपने स्वरूपमें स्थिर है ऐसे इस योगीको उत्तम याने आत्मानुभवरूप सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

ऐसे निष्पाप योगी इसीतरह सर्वदा मनको स्वरूपज्ञानमें युक्त करता करता ब्रह्मानुभवरूप अत्यंत सुखको सुखसे पाता है॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

सर्वत्र शत्रुमित्रादिकोंमें समदृष्टि योग जो "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस श्रुतिप्रमाणसे सखित्वरूप संयोग उसमें लगाया है मन जिसने सो आपरूपको आकाशादि सर्वभूतोंमें स्थित और उन आकाशादि सर्वभूतोंको आपमें देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥

ऐसे जो मुझको सर्वत्र मालाके मणिकोंमें सूत्रकी तरह देखता है और सर्व जगत् सूत्रमें मणिकोंकी तरह मुझमें देखता है मैं उसके अदृश्य नहीं होता हूं और वह मेरे नहीं अदृश्य है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ३१ ॥

जो एकत्व याने सबसे मित्रभाव, (एकत्वका अर्थ जो स्वरूपक एकता करे तो भजन किसका करे ? इससे मित्रता ही अर्थ है. वाल्मीकीयसुंदरकांडमें भी "रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत"

इस हनुमानके वाक्य करके एकताका अर्थ मित्रता ही सिद्ध होता है इससे) जो सर्वकी मित्रतामें रहा हुआ सर्वभूतोंमें व्यापक मुझको भजता है निश्चयं सो योगी सर्व आचरण करता हुआ मुझमें वर्त्तमान है याने मेरे हृदयमें वसता रहता है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन ! जो सुख अथवा दुःखको अपने समत्व करके सर्वत्र समान देखता है सो योगी उत्तम है. यह श्लोक उनतीसवें श्लोकका खुलासा करनेवाला है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम्३३

श्रीकृष्णके वाक्य सुनके अर्जुन बोलते भये-कि, हे मधुसूदन ! जो यह योग समताकरके तुमने कहा सो मनके चंचलत्वसे मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण! जिससे कि यह मन चंचल इंद्रियोंका क्षोभक दृढ बली है मैं इसका रोकना पवनका रोकना जैसा दुष्कर मानता हूँ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

ऐसा सुन श्रीकृष्ण भगवान् बोले-कि, हे महाबाहो ! यह मन चंचल है इसीसे रोकनमें आना कठिन है, यहां संशय नहीं तो भी हे

कुंतीपुत्र ! अभ्यास करके और वैराग्य करके रोकनेमें आता है ३५

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

यह योग जिसने मन वश न किया उसकरके प्राप्त होनेका नहीं ऐसी मेरी मति है और जिनने मनको वश किया है उसकरके यत्न करते करते उपायसे प्राप्त होनेको सकता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ३७

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते" इत्यादि वाक्यों करके योगमाहात्म्य सुना था तौभी विशेषज्ञानके वास्ते फिर पूंछते हैं जैसे कि, हे कृष्ण ! जो श्रद्धाकरके युक्त और यत्न न कर सका इससे योगसे मन चलायमान हुआ इससे योगसिद्धिको न पायके किस गतिको जाता है ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो ! वेदके मार्गमें भूलाहुआ याने स्वर्गादि प्राप्तिनिमित्त कर्म त्यागके निष्कामकर्मरूप योगको भी न प्राप्त हुआ इसीसे वह अप्रतिष्ठित और उभयभ्रष्ट याने स्वर्गादिप्राप्तिकारक कर्म भी छोडा और योग भी न मिला इसीसे कदाचित् छिन्नाभ्रकी तरह जैसे बडे मेघमेंसे निकसके मेघका टुकडा दूसरे मेघको न प्राप्त होके बीचमेंही नष्ट होता है तैसे न नष्ट हो" ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता नह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण ! इस मेरे संशयको अच्छी तरहसे छेदन करनेको योग्य हो क्योंकि, इस संशयका छेदनेवाला तुम विना दूसरा नहीं मिलेगा ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अर्जुनके वाक्य सुनके कृष्ण बोले-कि, हे पार्थ ! उस योगीको नाश न इस लोकमें ही न परलोकमें होता है; क्योंकि, हे तात ! शुभकर्त्ता कोई भी दुर्गतिको नहीं पाता है ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

जो योग पूरा हुए विना मर जाय तो भी वह योगभ्रष्ट पुण्य करनेवालोंके लोकोंको प्राप्त होके वहां अनेक वर्ष रहके पवित्र और धनवालोंके घरमें जन्मता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही जन्मता है, जो ऐसा यह जन्म सो इस लोकमें निश्चय दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनंदन ! वहां जन्म लेके वही पूर्वदेहसंबंधी बुद्धि संयोगको पाता है और उसपीछे फिरभी उस सिद्धिनिमित्त यत्न करता है ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

जो न करना चाहे इंद्रियजित न हो तो भी वह पुरुष उसी

पूर्वाभ्यासकरके उसीको प्राप्त होता है. क्योंकि, जो योगके जानेकी भी इच्छा करे तोभी शब्दब्रह्म यानें देवादिनाम शब्दयुक्त जो प्रकृति उसको उल्लंघन कर जाता है याने मुक्त होता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

ऐसे प्रयत्नसे योग करता करता निष्पाप भया हुआ योगी अनेक जन्मों करके सिद्ध हुआ तब निश्चयं मुक्तिको प्राप्त होताहै४५

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन ! योगी जो निष्काम कर्म कर्त्ता सो सकामिक तपस्वियोंसे अधिक माना है, ज्ञानियोसे भी अधिक है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी "योगी अधिक है इससे तुम "योगी हो" याने निष्काम होके स्वधर्मरूप क्षत्रियकर्म युद्ध करो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें लगा रहा जो चित्त ऐसे चित्त करके मुझको भजता है सो सर्व योगियोंमें भी श्रेष्ठ योगी है ऐसा मेरा अभिप्राय है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादाविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां षष्ठाऽध्यायप्रवाहः ॥ ६ ॥

इति प्रथमं षट्कं समाप्तम् ।

अथ द्वितीयषट्कं प्रारभ्यते।

प्रथम षट्कमें याने प्रथमके छः अध्यायोंमें ईश्वरप्राप्तिका उपायरूप भक्तियोगका अंग आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानयोग कर्मयोगसे कही. अब मध्य षट्कमें याने छः से बारहपर्यंत छः अध्यायोंमें परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान और उस ज्ञानके माहात्म्यपूर्वक भगवत्की उपासना याने भक्ति इसीको प्रतिपादन करते हैं. इसका खुलासा अठारहवें अध्यायमें पैंतालीस श्लोक पीछे "यतः प्रवृत्तिः" यहाँसे लेके "मद्भक्तिं लभते पराम्" इस चौवनवें श्लोकपर्यंत कहेंगे अब सातवें अध्यायमें भगवान् अपना स्वरूप वैभव वर्णन करेंगे—

श्रीभगवानुवाच।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! तुम मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे आश्रित भये हुए योगमें युक्त भये हुए जैसें संशयरहित समग्र याने विभूतिबलसहित मुझको जानोगे सो सुनो॥ १॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

मैं तुमको इस विज्ञानसहित ज्ञानको संपूर्णकरके कहता हूं जिसको जानके फिर इस लोकमें और जानने योग्य नहीं रहता है॥ २॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

मनुष्योंके हजारोंमें याने अनेक हजार मनुष्योंमें आत्मज्ञानसिद्धिके वास्ते कोई एक यत्न करता है यत्न करनेवाले सिद्धोंमें

भी कोई एक मुझको निश्चयकरके जानता है अर्थात् ऐसा जानने-
वाला ही दुर्लभ है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो ! पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ऐसे आठ प्रकारकरके न्यारी न्यारी भई यह जो मेरी प्रकृति सो यह अपरा याने जड है और इससे और जीवरूपको मेरी परा याने चेतन प्रकृति जानो, जिस प्रकृतिकरके यह जगत् धारित हुआ है ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

सर्वभूत प्राणिमात्र इन्हीं दोनोंसे प्रगट होते हैं ऐसा जानो. मैं सर्व जगत्का उत्पत्तिस्थान तथा प्रलयस्थान भी हूं ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं किंचिन्नान्यदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

सूत्रमें मालाके मणियोंकी तरह मुझमें यह सर्व जगत् पोहा है इसीसे हे धनंजय मुझसे न्यारा और कुछ भी नहीं है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

" सूत्रे मणिगणा इव " इसीको दिखाते हैं. हे कुंतीपुत्र ! जलमें रस चंद्रसूर्यकी कांति सर्व वेदोंमें ॐकार. आकाशमें शब्द पुरुषोंमें पुरुषार्थ मैं हूं याने इन जलादिकोंके सार जो रसादिक उनका

भी शरीर मैं और ये मेरे शरीर हैं ऐसे अहं शब्दका अर्थ सर्वत्र शरीर शरीरी संबंधसे जानना ॥ ८ ॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथिवीमें पवित्र गंध और अग्निमें तेज मैं ही हूं सर्व भूत-प्राणियोंमें आयुष्य और तपस्वियोंमें तप मैं हूं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ ! सर्व भूतोंका सनातन उत्पत्तिकारण मुझको जानो, मैं बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज हूं ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ ! मैं जो वस्तु प्राप्त नहीं उनकी कामना और प्राप्त वस्तुमें जो अनुराग इन कामरागों विना बलवंतोंका बल और भूत प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम हूं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

जो शमादिक सात्त्विक भाव और द्वेषादिक राजस और जो मोहादिक तामस भाव हैं वे मुझसे ही हैं ऐसे उनको जाना तो भी मैं उनमें नहीं याने उनके स्वाधीन नहीं हूं वे मुझमें हैं याने मेरे स्वाधीन हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

इन तीनों गुणमय भावोंकरके मोहित यह सर्व जगत् इनसे परे अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥

जिस वास्ते कि, यह गुणमयी दैवी याने मेरे संबंधिनी मेरी माया दुरत्यय है इससे जो मेरे शरण होते हैं वे इस मायाको तरते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

माया करके हरा गया है ज्ञान जिनका ऐसे मनुष्य वे असुरपनेको प्राप्त हुए निंदित कर्म करनेवाले नरोंमें अधम मूर्ख मुझको नहीं भजते हैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः १७

हे अर्जुन ! एक प्रकारके जो संसारसे दुःखी दूसरे जाननेकी इच्छा करनेवाले तीसरे धनादिक चाहनेवाले चौथे ज्ञानी याने स्वरूपज्ञाता ऐसे चार प्रकारके सुकृति जन मुझको भजते हैं. भरतर्षभ ! उनमें ज्ञानी नित्य योगयुक्त मेरी मुख्य भक्तिवाला श्रेष्ठ है कारण कि, ज्ञानीका मैं अत्यन्त प्रिय हूं और सो मेरे अतिशय प्रिय है ॥ १६ ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् १८

वे सर्व ही उदार हैं तो भी ज्ञानी मुझको पुत्रवत् प्रिय है ऐसा मेरा अभिप्राय है कारण कि, वह मुझमें ही चित्तको युक्त किये हुए सर्वोत्तम प्राप्ति मेरोको ही ध्याता है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अनेक जन्मोंके अंतमें सर्वजगत् वासुदेवरूप है ऐसे ज्ञानवान् होता है याने वासुदेवात्मक जानके ईर्षादि रहित होता है तब मुझको भजता है सो महात्मा अतिदुर्लभ है याने कोट्यवधिमें कोई एक होता है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

दूसरे सर्व तो अपनी राजस तामस प्रकृति करके राजस तामस कर्मोंमें लगे हुए उन उन कामनाओं करके नष्टज्ञान भये हुए उन उन पुत्रादिनिमित्त नियमोंको धारण करके अन्यदेवोंको भजतेहैं२०

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥२३॥

"तदेवाग्निस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थको खुलासा करनेवाली जो "यस्यादित्यः शरीरं" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थ रूप इन श्लोकोंकरके अन्य देवतोंकी भी भगवान् आपहीके शरीरभूत दिखाते हैं-जैसे कि, जो जो भक्त जिस जिसे इंद्रादिरूप

मेरे शरीरको श्रद्धाकरके अर्चनेको चाहता है उस उस भक्तको मैं वही अचलश्रद्धा धारण करताहूं सो भक्त उसी श्रद्धाकरके युक्त उसी इंद्रादिरूप मेरी मूर्तिका आराधन करता है और उसीसे मेरेही करके नियमित किये भये हित कामनाओंको प्राप्त होता है, परंतु उन अल्पबुद्धियोंको वह फल नाशवान् होता है जैसे कि, इंद्रादिदेवपूजनवाले देवोंको प्राप्त होते हैं मेरे भक्त निश्चय मुझको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

मेरे अविनाशी सर्वोत्तम परस्वरूपको न जाननेवाले मूर्खलोग जो मैं सर्वके हृदयमें मूर्तिमान् प्राप्त तिस मुझको अव्यक्त याने अमूर्ति मानते हैं तात्पर्य इसीसे अन्य देवोंको भजते हैं ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

यहाँ न जाननेका कारण कि, योग माया करके आच्छादित मैं सर्वको दीखता नहीं हूं इसीसे यह मूर्ख जन अजन्मा अविनाशी मुझको नहीं जानता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन! मैं जो प्रथम हुए उनको और हैं तिनको और होंगे उन सर्वभूत प्राणिमात्रोंको जानता हूँ, परंतु मुझको कोई भी नहीं जानता है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

हे भारत! हे परंतप! इच्छा और द्वेषकरके उत्पन्न हुए सुख दुःख

लाभ अलाभादि द्वंद्वरूप मोहकरके सर्वभूत प्राणी संसारमें मोहको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

और जिन पुण्यकर्मवाले मनुष्योंका पाप नाशको प्राप्त हुआ है वे द्वंद्व मोहसे छूटे हुए दृढव्रती मुझको भजते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् २९

जो मेरे आश्रित होके जरामरण छूटनेके वास्ते यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको और सर्व अध्यात्मको सर्व कर्मको जानते हैं इन ब्रह्मशब्दादिकोंका खुलासा आठवें अध्यायमें होगा ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विज्ञान-
योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो मुझको अधिभूत और अधिदैवसहित और अधियज्ञसहित जानते हैं वे मनुष्य ही मुझमें नित्य चित्त लगाये हुए मरणकालमें भी मुझको जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसाद-
विरचितायां गितामृततरंगिण्यां
सप्तमोऽध्यायप्रवाहः ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

जो सातवें अध्यायमें कहा था कि, जो जरामरणसे मुक्त होनेके वास्ते मेरा आसरा करके यत्न करते हैं वे उस ब्रह्मके तथा सर्व अध्यात्मको और सर्व कर्मको जानते हैं इत्यादि सुनके अर्जुन कृष्णसे पूँछते हैं-कि, हेपुरुषोत्तम ! जो आपने कहा वह ब्रह्म कौन है, अध्यात्म कौन है, कर्म क्या है और अधिभूत कौन कहलाता है और अधिदैव कौन कहलाता है ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

हे मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ कैसे हुआ और कौन है और इस लोकमें मरणकालमें जिसने मन जीता है उस करके कैसे जाननेमें आते हो ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

ऐसे अर्जुनके वचन सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोले-कि पर है प्रकृति जिससे याने प्रकृतिमुक्त जो अक्षर याने मुक्त जीव सो ब्रह्म है स्वभाव अध्यात्म कहलाता है जो सर्व भूतप्राणियोंकी उत्पत्ति करनेवाला विसर्ग याने सृष्टि सो कर्मसंज्ञक है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

जो क्षर भाव याने नाशवान् देहादिक सो अधिभूत है पुरुष जो सूर्यमंडलवर्ती मेरा ही एकरूप सो अधिदैवत है.

देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस देहमें अधियज्ञ मैं हूं यानें जीवका पूज्य मैं हूं ॥ ४ ॥

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

जो पुरुष अंतसमयमें मुझहीको सुमिरता सुमिरता देहको त्यागके इस लोकसे जाता है सो मेरी समताको प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तंतमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

जो मेरा सदा और अंतकालहूमें स्मरण करते करते शरीर त्यागे सो तो मुझहीको पावे. अथवा जो जो भाव याने वस्तु अथवा कोई प्राणीको सुमिरता सुमिरता सदा उसीमें लय लीन भया हुआ अंतमें देहको त्यागता है, सो हे कुंतीपुत्र ! उसी उसीको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

तिससे सर्व कालमें मुझको सुमिरो और युद्ध करो; ऐसे मुझमें मन बुद्धिको लगाये हुए मुझहीको पावोगे, इसमें संदेह नहीं ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

हे पृथापुत्र ! सदा अभ्यासयोगयुक्त आत्मस्वरूप विना दूसरेमें नहीं जानेवाला ऐसे चित्तकरके मेरा चितवन करता करता देदीप्यमान अतिउत्तम ऐसा जो परमपुरुष मैं उस मुझको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ॥ भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥

जो कोई भक्तिकरके युक्त पुरुष मरणसमयमें अचल मनकरके और योगबलकरके भौंहोंके मध्यमें निश्चल अच्छी तरहसे प्राणोंको प्रवेश करके अर्थात् कुंभक करके जो सर्वज्ञ, पुरातन, सर्वका शिक्षक, सूक्ष्मसे सूक्ष्म, सर्वको पालनेवाला, नहीं चिंतवनमें आता है रूप जिसका, सूर्य सरीखा है प्रकाशमान जो पुरुष और प्रकृतिसे पर उसको सुमिरता है सो उस पर देदीप्यमान पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यंचरंतितत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ११

वेदके जाननेवाले जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग ईश्वरप्राप्तिका यत्न करनेवाले जिसको प्राप्त होते हैं, जिसको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यको आचरते हैं, उस पदको तुमसे संक्षेपकरके कहूंगा ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

जो योगी देहको त्यागता त्यागता सर्व इंद्रियोंका संयमकरके और हृदयमें मनको रोकके अपने प्राणोंको मस्तकमें चढाके योगधारणामें स्थिर भया हुआ 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्मकी उच्चारण करता करता मुझको सुमिरता सुमिरता देह त्यागके जाता है सो अतिउत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे पृथापुत्र ! जो अनन्यचित्त मुझको नित्य निरंतर सुमिरता है उस नित्य मेरे संयोग चाहनेवाले योगीको मैं सुलभ हूं ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

यहांसे अध्यायसमाप्तिपर्यंत ज्ञानी जो कैवल्यार्थी उसकी मुक्ति और ऐश्वर्य चाहनेवालेकी पुनरावृत्ति कहते हैं-सो ऐसे कि, जो मेरी उपासनारूप परम सिद्धिको प्राप्त भये हैं वे महात्माजन मुझको प्राप्त होके फिर दुःखका घर नाशवान् जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यंत सर्वलोक, पुनरावर्ती हैं और हे कुंतीपुत्र ! मुझको प्राप्त होके फिर जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्मलोकपर्यंत पुनरावृत्ति देखनेको ब्रह्माके दिनरात्रिका प्रमाण दिखाते हुए उसको जाननेवालोंकी श्रेष्ठता कहते हैं-जो ब्रह्माका हजारचतुर्युगीपर्यंत दिन और हजार चतुर्युगीपर्यंत रात्रिको जानते हैं वे मनुष्य दिनरातिके जाननेवाले हैं, याने दीर्घदर्शी हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञिके ॥ १८ ॥

दीर्घदर्शित्व दिखाते हैं-सो ऐसे कि, ब्रह्माके दिनके आगममें

ब्रह्मोंके शरीरसे सर्व जीवोंके शरीर होते हैं रात्रिके आगममें उसी ब्रह्माके शरीरमें लीन होते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पृथापुत्र ! सोई यह भूतप्राणीसमूह कर्मपरवश भया हुआ सदा हो हो के रात्रिके आगममें लीन होता है, दिनके आगममें उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न नश्यति ॥ २० ॥

उस ब्रह्माके जडप्रकृतिशरीरसे श्रेष्ठ और जो अव्यक्त सनातन भाव है याने शुद्धचेतन है सो सर्व आकाशादि और शरीर नष्ट होनेसे भी नहीं नष्ट होता है ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

वह अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा है 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' उसको परमगति कहते हैं जिस शुद्धरूपको प्राप्त होके नहीं जन्मते हैं वह मेरा सर्वोत्तम धाम है, याने जैसे प्रकृतिमें मेरा शरीर है और जीव भी मेरा शरीर है परंतु जैसे सर्व घर किसी पुरुषका है उसमें निजमंदिर श्रेष्ठ होता है तैसे जीव प्रकृतिमें और मैं जीवमें रहता हूं इससे वह मेरा मुख्यशरीर है. यह कैवल्यमुक्ति कही, अब ऐश्वर्य-प्राप्ति कहते हैं ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

हे पृथापुत्र ! ये सर्व भूतप्राणी जिसके अंतस्थ हैं और यह सर्व

जगत् जिसकरके विस्तारित है सो परं पुरुषं याने परमात्मा अनन्यभक्ति करके प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

यंत्र कालें त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैवं योगिनः ।
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! जिस कालमें देह त्यागके गये हुए योगी अनावृत्तिको और आवृत्तिको जाते हैं उस कालको मैं कहता हूं॥२३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

जिस कालमें अग्नि प्रकाशक है तथा दिन शुक्लपक्ष है ऐसे छः महीने उत्तरायण उसमें गये हुए ब्रह्मज्ञानी जन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

जिस कालमें धूम राति तथा कृष्णपक्ष छः महीने दक्षिणायन इसमें गया हुआ योगी चांद्रमस ज्योतिको याने स्वर्ग पाके यज्ञादि फल भोगके फिर यहाँ जन्म लेता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्ण गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

ये शुक्ल कृष्ण मार्ग जगत्के सनातन नियमित हैं एककरके मुक्तिको जाता है दूसरेकरके फिर जन्मता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे पृथापुत्र ! इन मार्गोंको जानता हुआ कोईभी योगी नहीं मोहता है. हे अर्जुन ! इससे सर्व कालमें योगयुक्त हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

मनुष्य इसको जानके फिर जो पुण्यफल वेदाध्ययनमें, यज्ञमें तपमें और दानमें कहा है उस सबको अतिक्रमण करता है याने उससे भी अधिक फल पाता है, फिर योगी होके सर्वोत्तम आदि स्थानको पाता है, याने मुक्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यामष्टमोऽध्यायप्रवाहः ॥ ८ ॥

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

सप्तम और अष्टम अध्यायोंमें अपनी स्वरूपप्राप्ति भक्तिहीसे कही अब नवममें अपना सर्वोत्तम प्रभाव और भक्तिका भी प्रभाव कहते हैं—सो ऐसे कि, हे अर्जुन ! इस अतिगुप्त करनेयोग्य विज्ञानसहित ज्ञानको असूया जो पराये गुणमें दोष लगाना उसकरके रहित जो तुम तिनसे कहूंगा जिसको जानके संसारदुःखसे छूटोगे ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह भक्तिज्ञान राजविद्या और गोप्य वस्तुओंमें सर्वोत्तम पवित्र

अतिउत्तम प्रत्यक्षफलरूप धर्मयुक्त करनेको भी अतिसुगम और अविनाशी है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप अर्जुन ! इस धर्मसंबंधी श्रद्धाको न धारणकरनेवाले पुरुष मुझको प्राप्त हुए विना मृत्युरूप संसारमार्गमें फिरते रहते हैं॥३

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

यह सर्व जगत् अतिसूक्ष्म अंतर्यामीरूप मुझ करके व्याप्त है; इससे सर्वभूत प्राणी मेरे स्वाधीन हैं और मैं उनमें नहीं स्थित हूं याने उनके स्वाधीन नहीं हूं और वे भूत प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं याने जैसे घडेमें जल तैसे नहीं हैं मेरे ईश्वरसंबंधी इस योगको देखो भूतोंका भरने पोषनेवाला भी मेरा आत्मा याने मेरा शरीरभूत जीवात्मा भूतोंको धारण करनेवाला और भूतोंमें स्थित नहीं है ॥ ४ ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

जैसे महान् वायु नित्य ही आकाशमें रहा हुआ मेरे आधारसे सर्वत्र विचरता है तैसेही सर्व भूत मेरे आधार हैं ऐसे निश्चय करो॥६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७॥

हे कुंतीपुत्र! प्रलयकालमें सर्व भूत प्राणी मेरी प्रकृतिमें लीन होते हैं, कल्पकी आदिमें मैं उनको फिर अनेक प्रकारके उत्पन्न करता हूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अपनी प्रकृतिको आश्रय देके प्राचीन स्वभावके वशसे परवंश संपूर्ण इस भूत प्राणी समूहको वारंवार सृजता हूं ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! जो कहोगे कि, ऐसे विषमसृष्टि सृजनेवालेको विषमताके वैषम्यनिर्दयत्वदोष क्यों न लगेंगे? तहाँ सुनो, जो वे सृष्टयादिक कर्म करता हूँ उन कर्मोंमें आसक्त और उदासीनसरीखा स्थित ऐसे मुझको वे कर्म नहीं बंधन करते हैं ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

हे कुंतीपुत्र! जब मैं अध्यक्ष याने सर्वकृत्यका सम्हारनेवाला होता हूँ तब मुझ करके प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है इस कारण करके जगत् उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परंभावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२॥

जो राक्षसी और आसुरी, आपसरीखी मोहकारक प्रकृतिको धारण कर रहे हैं याने ऐसे स्वभाववाले, निष्फल आशावाले,

निष्फलं कर्मवाले, निष्फलंज्ञानवाले वे भ्रष्टचित्तं पुरुष जो सर्वं भूतोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर ऐसे मेरे प्रभावको न जानते हुए मूर्खं अतिकरुणासे मनुष्यरूपशरीरमें स्थित मेरी अवज्ञाकरते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पृथापुत्र ! दैवी प्रकृतिको प्राप्त भयेहुए महात्माजनं मुझको सर्वभूतोंका आदि और अविनाशी जानके अनन्यमनवाले भये हुए मुझको ही भजते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अब महात्माओंके भजनकी रीति कहते हैं-जैसे कि, निरंतर मेरा कीर्तन करते हुए और दृढसंकल्प कियेहुए मेरी प्राप्तिके वास्ते यत्न करते हुए और भक्तिकरके मुझको नमस्कार करतेहुए नित्य मेरे समागमकी इच्छा करनेवाले मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

और कितनेक महात्मा एकत्वकरके याने सख्यभावसे और कितनेक पृथक्त्वसे याने दास्यभावसे ऐसे बहुधा याने कोई वात्सल्य और कोई शृंगार इत्यादि भावना करके सर्वतोमुख याने सर्वव्यापी मुझको ज्ञानयज्ञ करके पूजते हुए उपासना करते हैं ॥ १५

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

अब अपना सर्वव्यापित्व दिखाते हैं-सो ऐसे कि, भगवान् कहते हैं कि, क्रतु याने अग्निष्टोमादिक श्रौत यज्ञ मैं हूँ, यज्ञ जो

स्मार्त पंचमहायज्ञ सो मैं हूँ, स्वधा जो पितृनके श्राद्धादिकर्म सो मैं हूँ, औषध याने अन्न सो मैं हूँ, मंत्र मैं हूँ, आज्य याने घृत सो मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, होम मैं हूँ, यह निश्चय है ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

इस जगत्का पिता, माता, धाता, पितामह जो जाननेयोग्य सो और पवित्र है सो और ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस जगत्की गति, पालनकर्त्ता, स्वामी, शुभाशुभकर्मोंका साक्षी, रहनेका स्थान, इच्छितवस्तु देनेवाला और अनिष्टका निवारक सुहृद, उत्पत्ति और नाशका स्थान, धारणकरनेवाला, अविनाशी, उत्पत्तिकारण सर्व मैं ही हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! अग्नि और सूर्यरूप होके मैं ही तपाता हूँ मैं ही ग्रीष्मादि ऋतुओंमें वर्षाको बंद करता हूं और वर्षाऋतुमें वर्षता हूं, अमृत और मृत्यु और सत् और असत् मैं निश्चय हूँ ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं
प्रार्थयंते ॥ ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति
दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥ ते तं भुक्त्वा
स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशं-
ति ॥ एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामका-
मा लभंते ॥ २१ ॥

इस तरहसे महात्मा ज्ञानियोंका व्यवहार और अपना वैभव कहा. अब सकाम जनोंकी रहनि रीति कहते हैं-जैसे कि, त्रैविद्या याने ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदोक्त इंद्रादिदेव निमित्त यज्ञ करनेवाले सोमपान किये हुए पापरहित यज्ञोंकरके इंद्रादिरूप मुझको आराधके स्वर्गकी प्राप्ति मानते हैं वे पुण्यरूप इंद्रलोकमें प्राप्त होके वहां स्वर्गमें दिव्य देव भोगोंको भोगते हैं, फिर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगके पुण्य क्षीण होनेसे इस मनुष्यलोकमें प्राप्त होते हैं. ऐसे वेदत्रयी धर्मको केवल वारंवार करते हुए सकामी जन गतागत याने स्वर्ग जाना मनुष्यलोकको आना फिर जाना फिर आना ऐसे फलको पाते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जो मनुष्य अनन्य भये हुए मेरा चिंतवन करते करते मुझको भजते हैं उन नित्य मेरे संयोग चाहनेवालोंका योग जो धनादिककी और मेरी प्राप्ति क्षेम जो धनादि संरक्षण और अपुनरावृत्ति इनको मैं प्राप्त करता हूँ ॥ २२ ॥

ये ऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

जो कि, औरदेवताओंके भक्त उनको श्रद्धायुक्त पूजन करते हैं वे भी मेरा ही पूजन करते हैं; परंतु हे कुंतीपुत्र ! वे अविधिपूर्वक पूजन करते हैं याने विधिपूर्वक नहीं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४॥

मैं निश्चय करके सर्व यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी हूं परंतु

वे सकामिक जन मुझको ऐसे निश्चय करके नहीं जानते हैं इससे जन्म मरणको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम्॥

अहो जो कहोगे कि, एक ही कर्ममें संकल्पमात्रसे कैसे भेद हुआ तहां सुनो जो इंद्रादि देवोंको भक्तिपूर्वक आराधते हैं ता उनहीको प्राप्त होते हैं, पितृभक्त पितृनको प्राप्त होते हैं; जो कोईसे भी राजा साधू चोर इत्यादि भूत प्राणीकी सेवा संगति करते हैं वे उनहीकी समताको प्राप्त होते हैं; जो मेरी भक्ति करते हैं वे निश्चय मुझको प्राप्त होते हैं याने मेरी समताको पाते हैं ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

जो कहोगे कि, बडोंको प्रसन्न करनेको बडे उपाय चाहिये तहां सुनो-जो कोई पत्र, पुष्प, फल, जल मुझको भक्ति करके युक्त अर्पण करता है मैं उस शुद्धचित्त भक्तके भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए उस पत्रादिके पदार्थको स्वीकार करता हूं ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८॥

हे कुंतीपुत्र ! मुझको ऐसा सुलभ जानके जो कुछ भी तुम करो, जो खाओ, जो होमो, जो देओ, जो तप करो उसको मेरे अर्पण किये हुए करो; ऐसे करते हुए जो कर्मबंधनकारक हैं उन शुभाशुभ फल कर्मों करके छूटोगे ऐसे ही इस कर्मफल अर्पण संन्यासयोगयुक्तचित्तवाले तुम मुक्त भये हुए मुझको प्राप्त होवेगे ॥ २७॥२८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजंति तु मां भक्त्यामयि ते तेषुचाप्यहम्॥२९

मैं सर्वभूतोंपर सम हू मेरे न अप्रिय न कोई प्रिय है. परंतु जो मुझको भक्तिकरके भजते हैं वे मेरे हृदयमें और उनके हृदयमें निश्चय करके मैं रहता हूँ ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

कचित् कोई पुरुष अति दुराचारी भी हो और वह मुझको अनन्यभाक् याने औरको न भाग देता हुआ सर्वत्र मुझहीको जानके सर्व मेरे अर्पण करता हुआ भजता हो सो साधु ही है ऐसे माननां चाहिये, जिससे कि वह सम्यक् निश्चय किये है उससे वह शीघ्र ही धर्मात्मा होगा और मोक्षहीको प्राप्त होगा.हे कुंती पुत्र ! तुम यह निश्चय जानो कि, मेरा भक्त नहीं नाशको पाता है याने मुक्त ही होता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परां गतिम्॥३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

हे पृथापुत्र! निश्चय पूर्वक मुझको आश्रय करके जो पापयोनि भी हो तथा स्त्री शूद्र वैश्य वे भी मोक्षको जाते हैं. जो पवित्र ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भक्त हैं उनकी मोक्षको फिर क्या शंका है ? इससे अनित्य दुःखरूप इस लोकको पाके मुझको भजो ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्य-
योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भजनरीति यह कि, मुझमें ही मनको युक्त किये हुये रहो मेरे ही भक्त मेरा ही पूजन करनेवाले होओ, मुझहीको नमस्कार करो; ऐसे मनको मुझमें युक्तकरके मेरे ही परायण भये हुए मुझकोही प्राप्त होवेगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथ-
प्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां
नवमाऽध्यायप्रवाहः ॥ ९ ॥

सप्तमादिक तीनों अध्यायोंमें श्रीकृष्णजीने अपना भगवत्तत्त्व और विभूति वर्णन की. जैसे कि, सप्तममें "रसोऽहमप्सु कौंतेय", अष्टममें "अधियज्ञोऽहमेवात्र" इत्यादि, नवममें "अहं क्रतुः" इत्यादिकरके संक्षेपसे कहीं. उनको और भक्तिकी आवश्यकता अब दशमाध्यायमें विस्तारसे कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् कहते भये-कि, हे महाबाहो ! मेरा सर्वोत्तम वाक्य फिर भी सुनो; जो वाक्य प्रीतियुक्त जो तुम तिन तुमसे तुम्हारे हितके वास्ते मैं कहता हूं ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मेरा जन्म हुआ ऐसा न देव न महर्षि जानते हैं; कारण कि, मैं देवोंका और सर्व महर्षियोंका भी आदि हूं ॥ २ ॥

या मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जो मुझको अजन्मा और अनादि लोकमहेश्वर जानता है सो मनुष्योंमें ज्ञानी है सर्व पापोंकरके छूटा है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

बुद्धि, ज्ञान, अव्याकुलता, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय और अभयभी और अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान यश अयश ये न्यारे न्यारे भूतोंके भाव मुझहीसे होते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

सात महाऋषि याने मरीचि वसिष्ठादिक महाऋषि चार इनके भी पूर्वज याने सनकादिक ऋषि तथा चादह मनु मेरे संकल्पज मन इच्छा प्रमाण उत्पन्न होते भये जिनके लोकमें ये प्रजा हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष मेरी महर्षि इत्यादिकोंकी उत्पत्तिरूप इस विभूतिको

और कल्याणगुणादिरूप योगको तत्त्वसे जानता है सो अचलं भक्तियोगकरके मुक्त होता है इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मैं सर्वका उत्पत्तिस्थान हूं मुझसे सर्व प्रवृत्त होता है ऐसा मुझको मानके भावसंयुक्त ज्ञानी जन मुझको भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥

उनका भजन प्रकार यह कि मुझमें ही जिनका चित्त है, श्वासोच्छ्वास पर मेरा स्मरण करते रहते हैं, परस्पर एक दूसरेको उपदेश करते हुए निश्चयपूर्वक मुझको याने मेरे ही गुणगणोंको कहते कहते निरंतर संतुष्ट होते हैं और मेरी करी हुई क्रीडायें करने लगते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

ऐसे वे निरंतर मेरे संगी मुझको प्रीतिपूर्वक भजनेवाले तिनको उस बुद्धियोगको देता हूं कि, जिसकरके वे मुझको प्राप्त होतेहैं १०

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

उनकीही दयाके वास्ते उनकी मनोवृत्तिमें रहा हुआ मैं प्रकाशित ज्ञानरूप दीपकरके उनके अज्ञानजन्य तिमिरका नाश करता हूं ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

ऐसे श्रीकृष्णजीके वाक्य सुनके अर्जुन बोले–कि, आप परब्रह्म हो श्रेष्ठ प्रभाव हो, परम पवित्र हो; सब ऋषिजन आपको अविनाशी दिव्य पुरुष आदिदेव अजन्म व्यापक ऐसे कहते हैं, वे ये जैसे कि, देवऋषि नारद तथा असित देवल व्यास और आप भी मुझसे कहते हो ॥ १२ ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्य यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! जो मेरेसे कहतेहो यह सर्व सत्य मानता हूं, कारण कि, हे भगवन् ! तुम्हारी उत्पत्तिको न देवता जानते हैं न दानव जानते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम ! हे भूतभावन ! हे भूतेश ! हे देवदेव ! हे जगत्पते आप आपको आपकीही बुद्धिसे आपही जानते हो ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

जो दिव्य आपकी विभूति हैं उनका समग्रतासे कहनेको योग्य हो जिन विभूतियोंकरके इन लोकोंमें व्यापक रहे हो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगी त्वां सदा परिचिंतयन् ।
केषुं कषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

मैं भक्तियोग भया हुआ आपको सदा ध्यावता भया कैसे जानूँ, हे भगवन् ! आप मुझकरके कौनं कौनसे रूपोंमें ध्यावने-योग्य हो ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हे जनार्दन ! आपका प्राप्ति उपाय और विभूति याने वैभव सो विस्तारसे फिर कहो याने संक्षेपसे कहा अब विस्तारसे कहो, क्योंकि, इस अमृतरूप माहात्म्यको सुनते सुनते मेरे तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

ऐसे सुनके भगवान् बोले-कि, हंत याने हे अर्जुन ! तुम्हारेसे दिव्य मेरी विभूतियोंको प्रधानतासे याने मुख्य मुख्य कहूँगा क्योंकि, हे कुरुश्रेष्ठ ! मेरे विस्तारका अंत नहीं ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

हे गुडाकेश! सर्व भूतोंके अंतःकरणमें रहा हुआ मैं सर्वभूतोंका अंतर्यामी हूँ और मैं ही आदि और मध्य और अंतभी हूँ अब यहांसे मैं मैं कहते जायँगे. यहां ऐसा अर्थ करना कि, जैसे आदित्योंमें विष्णु नाम आदित्य मैं हूं ऐसे कहनेसे यह हुआ कि, विष्णु आदित्य मेरी श्रेष्ठ विभूति है याने उसमें मेरी शक्ति ज्यादा है. ऐसा ही जहां मैं ही हूँ शब्द आवे तहां समझना. विशेष गीतावाक्यार्थ-बोधिनी टीकामें मैंने लिखा है, वहां श्रुतिस्मृतियोंका भी प्रमाण दिया है सो देख लेना ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

द्वादश आदित्योंमें विष्णुनाम आदित्य मैं हूं, ज्योतियोंमें किरणवंत सूर्य उंचास मरुतोंमें मरीचि मरुत, नक्षत्रोंमें चंद्रमा मैं हूं ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

वेदोंमें सामवेद हूं देवोंमें इंद्र हूं और इंद्रियोंमें मन हूं भूत-प्राणियोंमें चेतना हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

रुद्रोंमें शंकर हूं; यक्षराक्षसोंमें कुबेर, अष्टवसुओंमें अग्नि शिखरवालोंमें मेरुपर्वत मैं हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे पृथापुत्र ! पुरोहितोंमें मुख्य बृहस्पति मुझकोही जानो सेना-पतियोंमें कार्तिकस्वामी, सरोवरोंमें समुद्र मैं ही हों ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

महर्षियोंमें भृगु, वाक्योंमें एक अक्षर याने " ओम् " मैं हूं यज्ञोंमें जपयज्ञ, स्थावरोंमें हिमाचल हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

सर्ववृक्षोंमें पीपर और देवऋषियोंमें नारद, गंधर्वोंमें चित्ररथ, सिद्धोंमें कपिलमुनि हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि मांममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

घोडोंमें अमृतसे उत्पन्न उच्चैःश्रवाको, हाथियोंमें ऐरावतको और मनुष्योंमें राजा मुझहीको जानो ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

आयुधोंमें वज्र, धेनुओंमें कामधेनु मैं हूं, उत्पत्तिकारक कामदेव हूं, एकशिरवाले सर्पोंमें वासुकिसर्प मैं हूं ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अनेक शिरवाले सर्पोंमें शेषजी मैं हूं, जलजीवनमें मैं वरुण हूं पितॄनमें अर्यमा, शासन करनेवालोंमें मैं यम हूं ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्योंमें प्रह्लाद हूं अनर्थकारककी गिनतिकारकोंमें मैं काल हूं मृगोंमें मैं सिंह हूं पंक्षियोंमें गरुड हूं ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवित्रकारकोंमें पवन हूं, शस्त्रधारियोंमें राम साक्षात् मैं हूं यहां अवधारणमात्र विभूति है मच्छोंमें मकर हूं प्रवाहवालोंमें श्रीभागीरथी हूं ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

सर्ग जो ब्रह्माके दिवस उनमें आदि उत्पत्तिकारक, अंत प्रलय-कारक और मध्य रक्षकभी मैं हूँ हे अर्जुन! सर्वविद्याओंमें अध्यात्मविद्या, वाद करनेवालोंमें वाद याने सिद्धांत मैं हूँ" ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें अकार हूँ समासोंमें द्वंद्वसमास, अक्षय काल मैं चौतरफ मुख जिसके ऐसा सबोंको भरनेपोषनेवाला मैं हूँ" ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिःश्रीर्वाक्च नारीणांस्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ३४

सर्वका हरनेवाला मृत्यु मैं और अपनी बढती चाहनेवालोंमें उद्भव याने बढती मैं हूँ स्त्रीजनोंमें कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

तैसे सामवेदके मंत्रोंमें बृहत्साम, छंदोंमें गायत्रीमंत्र मैं हूँ महीनोंमें मार्गशीर्ष ऋतुओंमें वसंत मैं हूँ" ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोस्मि व्यवसायोस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छलकारियोंमें जूवा व तेजस्वियोंमें तेज मैं हूँ जीतनेवालोंमें जय हूँ निश्चयवालोंमें निश्चय हूँ उदारोंमें उदारता मैं हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव यहां वसुदेवपुत्रत्वमात्र विभूति जानना, पांडवमें अर्जुन तुम हो, सो श्रेष्ठ विभूति हो. इससे तुमभी मैं हूँ,

मुनियोंमें व्यासजी मैं हूँ, कवि जो शास्त्रदर्शी उनमें शुक्राचार्य कवि मैं हूँ ॥ ३७ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

स्ववशकर्ताओंमें दंड हूँ, जय चाहनेवालोंमें नीति हूँ गुप्त-करनेके उपायोंमें मौन हूँ, ज्ञानियोंमें ज्ञान हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन! सर्वभूतोंका जो आदिकारण है सो मैं हूँ, जो चराचर भूत मेरे विना होय सो नहीं है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियोंका अंत नहीं है परंतु यह विभूतिका विस्तार मैंने संकेतमात्रसे कहा है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

जो जो प्राणी ऐश्वर्यवान्, शोभायमान अथवा बडा हो सो सो मेरे तेजके अंशयुक्त है ऐसे तुम जानो ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! अथवा इस बहुत जानकरके तुम्हारे क्या प्रयोजन है मैं इस सर्व जगत्‌को एक अंशकरके धारण किये हुए स्थितहूं ४२॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां दशमाऽध्यायप्रवाहः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

जब भगवान्‌ने अपनी विभूति कही और उसमें अपने स्वरूपका वर्णन किया तब सुनके अर्जुन देखनेकी इच्छा करके बोले कि, हे भगवन् ! मेरे अनुग्रहके वास्ते सर्वोत्तम गोप्य अध्यात्मसंज्ञित याने आत्मज्ञानविषयक जो वचन आपने कहा उसकरके मेरा यह मोह गया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

कारण कि, हे कमलदलनयन ! भूतप्राणियोंके उत्पत्ति, प्रलय आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुने और आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! तुम अपने आपको जैसे कहते हो यह ऐसा ही है, हे पुरुषोत्तम ! तुम्हारे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज इन छः ऐश्वर्य युक्त रूपको देखनेको चाहता हूं ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! जो वह रूप मुझकरके देखनेको योग्य है ऐसा मानते हो हे योगेश्वर ! तो तुम अविनाशी अपने रूपको मुझको दिखाओ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

ऐसे वचन सुनके भगवान् बोले-कि, हे पृथापुत्र ! सैकडों फिर हजारों अनेक प्रकारके दिव्य और अनेक वर्ण आकारके मेरे रूपोंको देखो ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे भारत! मेरी देहमें द्वादश सूर्य अष्ट वसु ११ रुद्र अश्विनी कुमार २,४९ मरुत् देखो तथा जो प्रथम न देखे ऐसे बहुत आश्चर्य देखो हे गुडाकेश ! इस मेरे देहमें सचराचर सब जगत् एक ही ठिकाने इकट्ठेको आज देखो और जो और भी देखनेको चाहते हो उसे भी देखो ॥ ६ ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

इस अपनी दृष्टिकरके मुझको देखनेको न समर्थ होगे इससे तुमको दिव्य नेत्र देता हूं तिसकरके मेरे ईश्वरसंबंधी योगको देखो ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते भये-कि हे राजन् ! महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ऐसे कहके फिर सर्वोत्तम ईश्वरसंबंधी रूप अर्जुनको दिखाते भये ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

जिस रूपमें अनेक मुख और नेत्र हैं और अनेक अद्भुत दर्शन हैं अनेक दिव्य आभूषणयुक्त हैं और दिव्य अनेक उठाये हैं आयुध जिसने ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हैं दिव्य चंदनादि गंधका लेपन किये हैं सर्व आश्चर्यमय प्रकाशमान अंतरहित और सब ओर जिसमें मुख हैं ऐसा रूप अर्जुनको दिखाते भये ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः १२।

जो आकाशमें हजारों सूर्योंका एक समयमें उत्पन्न भया हुआ तेज हो सो तेज उन महात्मा भगवान्के तेजके समान हो ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

उस देवोंके भी प्रकाशक श्रीकृष्णके शरीरमें उस समयमें अनेक प्रकारका न्यारा न्यारा एकही ठिकाने इकट्ठा ऐसे सर्व जगत्को अर्जुन देखते भये ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

तब विस्मय करके व्याप्त रोमांचयुक्त वह अर्जुन कृष्णको मस्तकसे प्रणाम करके हाथ जोडे हुए बोले ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ॥ ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन कहते हैं—कि, हे देव ! तुम्हारे शरीरमें देवोंको तथा सर्व भूत प्राणियोंके समूहोंको तथा ब्रह्माको और कमलासन जो ब्रह्मा उनमें स्थित जो ईश्वर याने आप ही उनको और सर्व ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूं ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ॥ नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! तुमको सर्व ओरसे अनेक भुजा उदर मुख और नेत्रवाले अनंतरूप देखता हूं तुम्हारा न अंन्त न मध्य न फिर आदि देखता हूं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ॥ पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

तुमको किरीटवान् गदावान् चक्रवान् और तेजकी राशि सर्व ओरसे प्रकाशमान सर्व ओरसे दुर्निरीक्ष्य प्रदीप्त अग्नि और सूर्यकी कांतिसरीखी कांतिमान् और अपरिमितरूप देखता हूं॥ १७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधा-
नम् ॥ त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं
पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

मुमुक्षु जनोंकरके जानने योग्य सर्वोत्तम विष्णु आप हो इस विश्वके श्रेष्ठ आधार आप हो सनातनधर्मके रक्षक अविनाशी आप हो सनातन पुरुष आप हो यह मैंने जाना है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यने-
त्रम् ॥ पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा
विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

नहीं है आदि, मध्य और अंत जिनके अनंत हैं पराक्रम जिनके अनंत हैं भुजा जिनके चंद्र सूर्य नेत्र हैं जिनके प्रदीप्त है अग्निसदृश मुख जिनके जो आपक तेजकरके इस विश्वको तपायमान कर रहे हो ऐसे तुमको देखता हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च
सर्वाः ॥ दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्य-
थितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महाशरीर! द्यावापृथिवीका यह अंतर याने इस ब्रह्मांडका पोल आप एक करके व्याप्त है और सर्व दिशा व्याप्त हैं अर्थात् ऊँचाई करके ब्रह्मांड पोल और चौडाई करके सर्व दिशा पूर गयी हैं ऐसे आपके इस अद्भुत उग्र रूपको देखके तीनों लोक याने तीनों लोकोंक वासी देव मनुष्यादिक व्याकुल हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांज-
लयो गृणंति ॥ स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

ये देवताओंके समूह आपके समीप प्राप्त हुए हैं कितनेक भयभीत हाथ जोरे हुए तुम्हारे गुण नाम उच्चारण करते हैं महर्षि और सिद्धोंके समूह स्वस्ति ऐसे कहके तुम्हारी अनेक प्रकारकी स्तुतियों करके स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो य च साध्या विश्वेऽश्विनौ
मरुतश्चोष्मपाश्च ॥ गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

एकादश रुद्र द्वादश आदित्य अष्ट वसु और जो साध्य नामक उपदेव तेरह विश्वेदेव दो अश्विनीकुमार उंचास मरुत् और पितर और गंधर्व यक्ष देवता और सिद्ध इनके समूह ये सर्व विस्मित भये हुए तुमको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूप महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिता-
स्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! बहुत हैं मुख और नेत्र जिसमें था बहुत हैं भुज जांघ और चरण जिसमें बहुत हैं उदर जिसमें बहुत दाढों करके विकराल ऐसे तुम्हारे महत् रूपको देखके लोक व्याकुल हैं तैसेही मैं भी व्याकुल हूं ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तवि-
शालनेत्रम् ॥ दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं
न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥ दंष्ट्राकरालानि
च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ॥ दिशो
न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास
॥२५॥ अमी च त्वां (दृष्ट्वा दिशो न जानंति शम न

लभंते इति पूर्वेण पंचविंशतितमेन पद्येनान्वयः) धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः । भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहाऽस्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्रा करालानि भयानकानि ॥ केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

हे विष्णो ! नभ जो प्रकृतिसे परे परम आकाश वैकुंठ तहां पर्यंत है स्पर्श जिनका जो प्रकाशमान अनेक वर्णयुक्तरूप तथा मुख फैलाये प्रदीप्त और विशाल नेत्र ऐसे आपको देखके जिससे कि, व्याकुलचित्त भया हुआ धीरजको और शांतिको नहीं प्राप्त होता हूं और डाढै हैं कराल जिनमें और कालानलके तुल्य हैं ऐसे तुम्हारे मुखोंको देखके ही दिशाओंको नहीं जानता हूं और सुखको भी नहीं प्राप्त होता हूं और राजाओंके समूहों करके सहित ये सर्व धृतराष्ट्रके पुत्र तथा भीष्म द्रोण यह कर्ण और हमारे योद्धाओंमें मुख्य जो हैं उनकरके सहित तुमको (देखके दिशाओंको नहीं जानते हैं और सुखको नहीं प्राप्त होते हैं "ऐसे प्रथमके पच्चीसवें श्लोककरके अन्वय है") ये सर्व अतिवेगको प्राप्त भये डाढै हैं कराल जिनमें ऐसे भयानक आपके मुखोंमें प्रवेश करते हैं कितनेक चूर्णित भये हुए मस्तकोंकरके सहित तुम्हारे दांतोंकी संधियोंमें फटके हुए दीखते हैं इससे हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप कृपा करो याने हम सब डरते हैं इससे आप प्रथम सरीखे सौम्यरूपको धारण करो ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ॥ तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति ॥ २८ ॥

जैसे नदियोंके बहुतसे पानीके वेग समुद्रकेही संमुख धांवते हैं तैसे ये नरलोकवीर तुम्हांरे प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते हैं॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय स-मृद्धवेगाः ॥ तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्त-वापि वक्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे अतिवेगवंत पतंग आपके नाशके वास्ते प्रदीप्त अग्निम प्रवेश करते हैं तैसे ही अतिवेगवंत ये लोग भी अपने विनाशके वास्ते तुम्हारे मुखोंमें प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनै-र्ज्वलद्भिः ॥ तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्त-वोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

हे विष्णो ! प्रज्वलित अपने मुखोंकरके सर्व लोगोंको सब ओरसे घेरते हुए चाटे जाते हो याने खाये जाते हो तुम्हारे उग्र प्रकाश सर्व जगत्को अपने तेजकरके परिपूरित करके तप रहे हैं३०

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देव-वर प्रसीद ॥ विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

हे देववर ! ऐसे उग्ररूप आप कौन हो सो मुझसे कहो, क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता हूँ जो आप आदि हो उनको जाननेकी इच्छा करता हूं आप कृपाकरो आपको नमस्कार हो३१

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तु-मिह प्रवृत्तः ॥ ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे ये-ऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

ऐसे सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोले-कि, मैं इन लोगोंके क्षयके वास्ते बढा हुआ काल हूं यहां इन लोगोंका संहार करनेके वास्ते प्रवृत्त हुआ हूं जो ये योधा तुम्हारी शत्रुसेनाओंमें खडे हैं ये सर्व तुम्हारे विना निश्चयपूर्वक न रहेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥ मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

हे सव्यसाचिन् हे अर्जुन ! जिससे कि ये मरेहींगे इससे तुम उठो यश लो शत्रुओंको जीतके समृद्ध राज्यको भोगो प्रथम ही ये सब मैंने मार राखे हैं तुम तो निमित्तमात्र होओ ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ॥ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ३४ ॥

द्रोण और भीष्म और जयद्रथ और कर्ण तथा और भी शूर वीर मेरे मारे हुए इनको तुम मारो मत दुःखित होओ रणमें शत्रुओंको जीतोगे युद्ध करो ॥ ३४ ॥

संजय उवाच ।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ॥ नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं-कि, किरीटी जो अर्जुन सो श्रीकृष्णके इतने वचन सुनके कांपते कांपते हाथ जोडे हुए नमस्कार करके फिर भी भयभीत प्रणाम करके गद्गदकंठयुक्त श्रीकृष्णसे बोलते भये ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्य-
नुरज्यते च ॥ रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन कहते हैं-कि, हे हृषीकेश ! तुम्हारी उत्तम कीर्तिकरके जगत् आनंदित होता है और आपसे प्रीति करता है राक्षस भयको प्राप्त भये हुए सर्व दिशाओंको भागते हैं और सर्व सिद्धसमूह नमस्कार करते हैं सो यह योग्य ही है ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्म-
णोऽप्यादिकर्त्रे ॥ अनंत देवेश जगन्निवास त्वम-
क्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्मासे भी बडे आदिकर्त्ता जो आप उन तुमको वे क्यों न नमन करें अर्थात् करेहीं कर हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो अक्षर याने जीवतत्त्व सत् जो कार्य स्थूलप्रकृति असत् जो सूक्ष्मप्रकृति कारण तत्पर जो शुद्ध आत्मा सो सब आप हो याने सबके अंतर्यामी हो ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं
निधानम् ॥ वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया
ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

आप आदिदेव पुराण पुरुष हो तुम इस विश्वके परम आधार हो इसके जाननवाले और जानने योग्य और इसके सर्वोत्तम वास-स्थान हो हे अनंतरूप ! यह विश्व तुमकरके व्याप्त है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः पितामहस्त्वं प्रपि-

तामहश्च ॥ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

पवन अग्नि यम वरुण चंद्र पितामह और प्रपितामह तुम हो इससे तुमको हजारों वार नमोनमः हो फिर और फिर भी तुमको नमोनमः ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥ अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

हे सर्व ! तुमको अगाडीसे और पिछाडीसे नमस्कार और तुमको सब ओरसे भी नमस्कार हो अनंत बल और अमित पराक्रम तुम सबमें व्यापक हो इसीसे तुम सर्वरूप हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्त हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥ अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ॥ एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे अच्युत ! तुम्हारे महिमाको और इस विश्वरूपको न जाननेवाला जो मैं उस मैंने प्रमादसे अथवा प्रणयसे भी सखा ऐसे मानके हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! ऐसे हठसे जो कहा हो और क्रीडा शयन आसन तथा भोजनकालमें अकेले अथवा और उन सखोंके संमुख हँसीके वास्ते जो आपका अपमान किया हो सो परिमितिरहित जो आप उन आपसे मैं क्षमा कराता हूं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ॥ न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥४३॥ तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय काय प्रसादये त्वामहमीशमी-ड्यम् ॥ पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

हे सर्वोत्तमप्रभाव! आप इस चराचर लोकके पिता हो और सर्व गुरुओंसे बडे गुरु हो इसीसे पूज्य हो तीनों लोकमें भी आपसमान और नहीं है तो कहांसे और अधिक होगा इससे मैं शरीरको पृथिवीपर धारण किये हुए प्रणाम करके ईश्वर इसीसे स्तुति करने-योग्य आपको प्रसन्न करता हूं हे देव ! पुत्रके प्रियके वास्ते पिता जैसे सखाके प्रियके वास्ते सखा जैसे एसे मेरे प्रिय आप हो सो मेरे प्यारके वास्ते मेरे अपराध सहनेको योग्य हो ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ॥ तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

जो रूप मैंने और किसीने भी प्रथम नहीं देखा था उसको देखके चकित भया हूं और भयसे मेरा मन व्याकुल भया है हे देव! मुझको वही प्रथमका रूप दिखावो हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप मुझपर प्रसन्न होउ ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ॥ तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ ४६ ॥

हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्त्ते ! मैं वैसा ही किरीटयुक्त गदायुक्त चक्रहस्त आपको देखनेको चाहता हूं इसवास्ते उसही चतुर्भुज रूपकरके युक्त होओ ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥ तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

ऐसी अर्जुनकी प्रार्थना सुनके भगवान् बोले-कि, हे अर्जुन ! जो तेजोमय विश्वरूप अंतरहित सर्वका आदि तुम्हारे विना और किसीने नहीं प्रथम देखा सो यह परं रूप प्रसन्न मैंने आपके सत्यसंकल्परूप योगसे तुमको दिखाया ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाऽध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ॥ एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ वीर ! ऐसे रूपको मैं इस मनुष्यलोकमें तुम्हारे विना औरको न वेदपाठ,यज्ञ और मंत्रजपकरके न दानकरके और न योगक्रियाकरके न उग्र तपकरके दिखानेको योग्य हूं॥४८

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ॥ व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

ऐसे घोर मेरे इस रूपको देखके तुमको व्यथा मति हो और मोहभाव भी मति हो भयरहित प्रसन्नमन तुम वही यह मेरा रूप फिर देखो ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ॥ आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं-कि, वसुदेवपुत्र कृष्ण ऐसे अर्जुनको कहके वैसा ही पूर्ववत् अपने रूपको फिर दिखाते भये और जो बडे शरीरयुक्त थे सो सौम्यरूप होके फिर भयभीत अर्जुनको आश्वासते भये ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

तब अर्जुन बोले-कि, हे जनार्दन ! तुम्हारे इस सौम्य मानुष रूपको देखके अब सचेत भया हुआ अपने स्वभावको प्राप्त हुआ सावधान हूं ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अर्जुनके वाक्य सुनके श्रीकृष्ण बोले-कि, हे अर्जुन ! जो अति दुर्लभ दर्शन इस मेरे रूपको तुम देखते भये इस रूपके देवता भी निरंतर दर्शनाभिलाषी रहा करते हैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! जैसे मुझको तुम देखते भये इस प्रकारका मैं न वेदोंकरके न तपकरके न दानकरके और न यज्ञकरके देखनेके योग्य हो सकता हूं क्योंकि, हे परंतप ! ऐसा मैं अनन्य भक्तिकरके निश्चयपूर्वक जाननेको और देखनेको समीप प्राप्त होनेको भी योग्य हो सकता हूं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शन-
योगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

हे पांडव ! जो मनुष्य मेरे निमित्त लौकिक वैदिक सर्व कर्म करता है मुझकोही सर्वसे अतिउत्तम मान रहा है मेराही भक्त है मेरे संबंध विना और संगोंकरके रहित है और सर्वभूत प्राणियोंमें निर्वैर है सो मुझको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसाद-
विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां
एकादशोऽध्यायप्रवाहः ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

ऐसे प्रथम आत्म ज्ञानकी महिमा श्रीकृष्णजीने वर्णन की फिर भक्तिसेही जानने देखनेमें और प्राप्त होनेमें आता हूं सो दोनोंको सुनके अर्जुन पूंछते हैं-कि, निरंतर भक्तियोगयुक्त भये हुए जो भक्त ऐसे जो आप पीछे अध्यायके अंतमें कहा तैसे आपकी उपासना करते हैं और जो इंद्रियोंके अदृश्य अक्षर याने आत्म-

स्वरूप उसकी उपासना करते हैं उन दोनोंमें अतिश्रेष्ठ कौन है, आत्मज्ञानी श्रेष्ठ है कि, आपके उपासक श्रेष्ठ सो कहो ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

ऐसा अर्जुनका प्रश्न सुनके श्रीकृष्ण भगवान् बोले-कि, जो निरंतर भक्तियोगयुक्त मुझमें मनको लगाके परम श्रद्धाकरके युक्त मुझको भजते हैं वे योगियोंमें श्रेष्ठ मेरे मान्य हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥ सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥ ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥ अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

जे कोई इंद्रियसमूहको नियममें राखिके सर्वत्र समबुद्धि सर्वभूतोंके हितमें रत हुए अनिर्देश्य याने देवादिशरीरोंकरके कहनेमें न आवे ऐसे अव्यक्त याने इंद्रियगोचर नहीं "सर्वत्रगं" याने, सर्वत्र देवादिशरीरोंमें रहनेवाला अचिन्त्य याने ध्यानमें न आवे और कूटस्थ याने सर्वत्र एकसा रहे अचल याने स्वस्वरूपहीमें स्थिर इसीसे नित्य ऐसे अक्षरको याने आत्मस्वरूपको भजते हैं याने आत्मस्वरूपहीका अनुसंधान करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त होते हैं परन्तु आत्मज्ञानने दशा दुःखपूर्वक देहधारियों करके प्राप्त होती है इससे उन अव्यक्तासक्तचित्तोंको अतिशय क्लेश है ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे पृथापुत्र! जो कोई सर्व कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मेरे ही शरण भये हुए अनन्य भक्तियोगकरके मुझको ध्यावते पूजते हैं ऐसे मुझमें लगाया है चित्त जिन्होंने उनका मैं थोडेही कालमें मृत्युदुःखरूप संसारसागरसे उद्धारकर्ता होऊँगा ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इससे तुम मुझमेंही मनको लगावो मुझमेंही बुद्धिको लगावो इस मन, बुद्धि लगाये पीछे मेरेही समीप रहोगे इसमें संशय नहीं है ८॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! जो कदाचित् मुझमें चित्तको स्थिर समाधान करनेको नहीं सकते हो तो अभ्यासयोगकरके मेरे प्राप्त होनेको इच्छते रहो ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

जो अभ्यासमें भी असमर्थ हो ओ तो मेरे पूजनादिक कर्मोंमें मुख्य स्थिर होउ मेरे अर्थ भी कर्मोंको करते करते मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त होओगे ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

जो कि, तुम यहभी करनेको अशक्त हो तो मनको सावधान किये हुए मेरे भक्तियोगका आश्रय किये हुए सर्व कर्मफलका त्याग करो ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥

जिससे कि, अभ्याससे कल्याणकारक ज्ञान होता है ज्ञानसे विचार होता है विचारसे कर्मफलत्याग होता है कर्मफलके त्यागसे फिर शांति याने संसारसे वैराग्य होता है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः संततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो सर्वभूतोंका न द्वेषकारक हो और सबका मित्र हो और दयालु भी हो ममतारहित अहंकाररहित सुखदुःखमें सम क्षमावान् यथालाभसंतुष्ट निरंतर भक्तियोगवान् जितचित्त दृढनिश्चय मुझमें मन, बुद्धिको लगाये हो सो मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे कोई भी जन्तु त्रास न पावै और जो किसीसे भी दुःख न पावै और जो हर्ष, ईर्षा, भय और उद्वेगोंकरके रहित हो सो मेरा प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

जो मनुष्य मेरे संबंध विना सर्वत्र अपेक्षारहित शुचि याने शुद्ध आहारी और बाहर मृत्तिका जलादिकरके और अंदर चित्तकी शुद्धता करके पवित्र स्वधर्म अनुष्ठानमें चतुर शत्रुमित्रादिरहित शास्त्रोक्त कर्म करनेमें व्यथारहित सर्व आरंभोंके फल और ममताका त्यागी ऐसा मेरा भक्त सो मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः १७॥

जो सुखकारक वस्तु पाके न हर्ष दुःखकारक पाके न द्वेष करे शोकनिमित्तमें न शोक करे और हर्षकारककी न इच्छा करे जो शुभाशुभ कर्मफलोंका त्यागी हुआ भया भक्त हो सो मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ तुल्य-
निंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ॥ अनि-
केतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१८॥१९॥

शत्रु और मित्रमें सम तैसा ही मान अपमानमें और शीत उष्ण सुखदुःखोंमें सम हो विषयोंकी आसक्तिरहित निंदा स्तुति तुल्य माने मितभाषी जो स्वतःप्राप्त हो इसीकरके संतुष्ट घरमें अनासक्त स्थिरबुद्धि भक्तिमान् मनुष्य मेरा प्रिय है ॥ १८ ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्ति-
योगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जो कोई श्रद्धा धारे हुए मुझको सर्वोत्तम जाननेवाले भक्त इस यथोक्त धर्मरूप अमृतको याने मुझमें मन लगाना इत्यादि धर्म्य-रूप अमृतको सेवते हैं वे मनुष्य मेरे अतिशय प्रिय हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपण्डितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीगीतामृततरंगिण्यां द्वादशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं षट्कं समाप्तम् ॥

अथ तृतीयं षट्कम् ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

प्रथमके छः अध्यायोंमें ईश्वरप्राप्तिका उपायभूत उपासना और उपासनाका अंगभूत आत्मस्वरूपज्ञान कहा और उस आत्मस्वरूपज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानयोग कर्मयोगनिष्ठासे होती है ऐसे कहा ॥ मध्यके छह अध्यायोंमें परमात्मस्वरूपका यथार्थज्ञान और उसके माहात्म्यज्ञानपूर्वक उपासना जिस उपासनाको भक्ति भी कहते हैं सो कहते भये॥अब अंतके छह अध्यायोंमें प्रकृतिपुरुषका निरूपण और इस प्रपंचका प्रकृतिपुरुषसंयोगसे होना कहेंगे और प्रथम बारह अध्यायोंमें जो कहे परमात्मस्वरूपका यथार्थ निश्चय और कर्मज्ञानभक्तिस्वरूप और इनके ग्रहणके न्यारे न्यारे प्रकार कहेंगे ॥ तहां तेरहवें अध्यायमें देह और आत्माके स्वरूप और आत्मस्वरूपप्राप्तिका उपाय तथा प्रकृतिमुक्त आत्माका स्वरूप और उसके प्रकृतिसंबंधका कारण और प्रकृतिपुरुषविवेकका अनुसंधानप्रकार कहेंगे । श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं-कि; हे कुंति-पुत्र ! यह शरीर क्षेत्र ऐसा कहा है जो इसको जानता है उसको

देहात्मज्ञानिजन क्षेत्रज्ञ ऐसे कहते हैं याने देह क्षेत्र और आत्मा क्षेत्रज्ञ है ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत ! सर्व क्षेत्रोंमें याने सब देहोंमें क्षेत्रज्ञ जो जीव और मैं जो परमात्मा उस मुझकोभी जांनो जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान याने इनका विवेक ज्ञान है सो ज्ञान मुझको अंगीकार है ॥ यहाँ जो शरीरोंमें आत्मा परमात्मा दोनों कहे उसपर श्रुति प्रमाण है सो यह "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥ तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥" अर्थ–दो पक्षी संग संग रहनेवाले परस्पर सखा एकसदृश वृक्षपर रहते हैं उनमेंसे एक उस वृक्षके स्वादु फल खाता है. दूसरा खाये विना प्रकाशता है अर्थात् ईश्वर और जीव सदा संग रहते हैं परस्पर सखा एकसरीखे देहमें रहते हैं उनमें जीव शरीरजन्य कर्मफलोंका भोक्ता है और ईश्वर साक्षिमात्र प्रकाशक है दूसरा यह अर्थ होता है कि,क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ अर्थात् इन दोनोंका अंतर्यामी हूँ तोभी देहांतर्यामी जीव जीवांतर्यामी परमात्मा ऐसे भी यही अर्थ सिद्ध भया जो यहां जीव और ईश्वर एक ही कहते हैं उनको "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" यहां अर्थकी पंचाइत होनेकी अंतर्यामित्वमें तो "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति॥न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्" और "यस्यात्मा शरीरं य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमंतरो यमयति यमात्मा न वेद स ते आत्मा अमृतः" इत्यादिक श्रुति भी प्रमाण हैं ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

सो क्षेत्र जिस द्रव्यका है और जिनके आश्रयभूत है और जिन विकारोंकरके और जिस प्रयोजनके वास्ते उत्पन्न हुआ है और जिस रूपसे वर्तमान है और वह क्षेत्रज्ञ जो है याने जैसे रूपयुक्त है और जैसे प्रभाववाला है सो संक्षेप करके मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

वह क्षेत्रक्षेत्रज्ञका यथास्वरूप बहुत प्रकारकरके पराशरादिक ऋषियोंने और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ऐसे अनेक प्रकार वेदोंने और ब्रह्मके प्रतिपादन करनेवाले जो ब्रह्मसूत्र याने व्यासकृत शारीरिक सूत्ररूप पदोंने जो कारणयुक्त निश्चय याने सिद्धान्त करनेवाले उनने भी क्षेत्रक्षेत्रज्ञके स्वरूपको न्यारा न्यारा कहा है सो मैं संक्षेपसे कहूँगा तुम मुझसे सुनो ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि याने महत्तत्त्व और अव्यक्त याने सूक्ष्मरूप प्रकृति ये क्षेत्रके उत्पत्तिकारक द्रव्य हैं अब विकार याने कार्य कहते हैं दश और एक ऐसे ग्यारह इंद्रियां हैं जैसे कि, कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नासिका ये पांच ज्ञानइंद्रियां वाणी, हाथ, पांय, गुदा और लिंग ये पांच कर्म इंद्रियां एक मन ऐसे ग्यारह इंद्रियां और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं ये सोलह विकार हैं इच्छा, द्वेष, सुख दुःख संघात याने सविकार भूत समूह चेतना जो ज्ञानशक्ति धृति जो धीरज ऐसे संक्षेपसे विकारसहित यह क्षेत्र कहा ॥ ५ ॥ ६ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अब क्षेत्रकार्योंमें आत्मज्ञानसाधनके वास्ते ग्रहण करनेके गुण कहते हैं जैसे-कि, श्रेष्ठ जानोंमें मानका न चाहना लोक दिखानेको धर्म, कर्म रूप दंभ न करना परपीडारूप हिंसाका न करना अपनेसे बलहीनके अपराध सहनरूप क्षमा रखना सर्वसे सरल स्वभाव रहना. मन, वचन, कर्म करके गुरुकी सेवा करना मृत्तिका जलादिसे बाहर और शुद्ध चित्तसे ईश्वरस्मरण रूप अंतर ऐसा शौच करना आत्मज्ञानमें स्थिर रहना मनको सर्वत्रसे निवारण करके ईश्वरमें लगाना ॥ ७ ॥

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इंद्रियविषयोंमें गुणबुद्धि न करना और देहमें और देहसंबंधी पदार्थोंमें अहंबुद्धि न करना जन्म मृत्यु वृद्धावस्था अनेक रोग ऐसे शरीरमें इन दुःखरूप दोषोंका विचारना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

आत्मा विना अन्यत्र आसक्तिरहित पुत्र स्त्री और घर इत्यादिकोंमें अति मिलाप न रखना और इष्ट और अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें निरंतर समचित्त रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मुझमें अनन्ययोग करके अखंड भक्ति एकांत रहनेमें प्रीति जनसभामें अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

आत्मसंबंधी ज्ञानकी नित्यता तत्त्वज्ञानके प्रयोजनका विचारना ऐसे यह ज्ञान कहा जो इससे अन्यथा है सो अज्ञान है ११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

जो जाननेयोग्य है सो कहता हूं जिसको जानके मोक्षको पाता है वह ऐसा है कि, अनादि याने जन्मरहित है मत्पर याने उससे श्रेष्ठ मैं ही हूं वह केवल मेरे स्वाधीन है ब्रह्म याने प्रकृतिमुक्त शुद्ध चैतन्य जीवात्मा है वह आत्मा न सत् न असत् कहनेमें आता है याने कार्य कारण दोनों अवस्थाओं करके रहित है ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सवतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

वह जीवात्मा सब ओरसे हाथ पांववाला है सब ओरसे नेत्र मस्तक और मुखवाला है सब ओरसे कानवाला है लोकमें वस्तुमात्रमें व्यापक होके रहता है यह स्वरूप मुक्तजीवका कहा मुक्तदशामें जीवकी समता परमात्माके सरीखी है सो यहां गीतामें भी कहेंगे "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" सूत्र भी है "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" और "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति" ऐसे जो परमात्माका समता कही है तो परमात्मासरीखा स्वरूप होनेमें क्या शंका है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्व इंद्रियोंकी वृत्तियों करके भी विषयोंको जाननेमें समर्थ है

और आप स्वभावसे सर्व इंद्रियोंकरके रहित भी हैं याने इंद्रियोंकी वृत्ति विना भी विषयोंको जाननेमें समर्थ हैं आप स्वयं देवादिश-रीरोंमें आसक्त नहीं है और सर्व देवादिशरीरोंका धारण करने वाला है सत्त्वादिगुणरहित और गुणोंका भोगनेवाला ॥ १४ ॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥

वह आत्मा मुक्तावस्थामें पृथिव्यादि भूतोंके बाहर और वृद्धा-वस्थामें भीतर रहता है स्वयं आप अचर है और देहसंयोगसे चर होता है सूक्ष्म है इससे जानने योग्य नहीं है वह अज्ञानियोंके दूर है और ज्ञानियोंको समीप है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह पृथिव्यादि भूतविकार देवादि शरीरोंमें एकरस रहता है और अज्ञानियोंको देवादिशरीरोंमें देवादिशरीरोंके सदृश दीखता है कि यह देव यह मनुष्य पशु इत्यादिक विभक्तसरीखा स्थित दीखता है और सर्वभूतोंका पोषक है और अन्नादिक भूतोंका भक्षक है देहरूपसे आहार करनेवाला है और उसी अन्नादि विका-रसे उत्पत्तिकर्ता भी है ऐसे जाननेयोग्य है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

वह सूर्यादिक ज्योतियोंका भी प्रकाशक है सूक्ष्मकारणरूप प्रकृतिसे परे याने न्यारा कहता है ज्ञानरूप जाननेयोग्य ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य सर्वके हृदयमें रहता है याने सर्व देव मनुष्य पशु पक्ष्यादि शरीरोंके हृदयमें रहता है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

ऐसे ' महाभूतान्यहंकारः ' यहांसे लेके, 'संघातश्चेतना धृतिः' यहां पर्यंत क्षेत्र कहा तथा " अमानित्वं " यहांसे लेके " तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं " यहांपर्यंत ज्ञान कहा और "अनादिमत्परं" यहांसे लेके "हृदि सर्वस्य धिष्ठितं " यहांपर्यंत ज्ञेय याने जानने योग्य आत्मस्वरूप कहा ऐसे यह संक्षेपसे कहा इतनोंको जानके मेरा भक्त होके मुझसरीखे स्वरूपको प्राप्त हो ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

प्रकृतिको और पुरुषको याने जीवको इन दोनोंको भी अनादि याने सनातन जानो जो बंधनकारक इच्छा द्वेष सुख दुःखादिक विकार इनको और मोक्षकारक अमानित्व अदंभित्व गुण इनको निश्चयपूर्वक प्रकृतिसंभव जानो अर्थात् इच्छादिविकारयुक्त प्रकृति पुरुषको बंधनकारक और अमानित्वगुणयुक्त मोक्षदायक होती है ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अब एकसंग रहे हुए प्रकृतिपुरुषोंके कार्यभेद कहते हैं जैसे कि, जो प्रकृतिपरिणाम देहकारण मनसहित इंद्रियां इनका व्यापार करानेमें कारण प्रकृति कही है सुखदुःखोंके भोक्तापनेमें कारण पुरुष कहा है याने भोगसाधनकर्मकी आश्रय प्रकृति परिणाम और पुरुषयुक्त देह तथा सुखादिभोक्तृत्व आश्रय पुरुष है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

जिसवास्ते कि, यह पुरुष प्रकृतिहीमें रहा हुआ प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है इसीसे इसका ऊंच नीच योनियोंमे जन्म लेनेमें कारण प्रकृति गुणोंका याने सत्त्वादि गुणोंका संग ही है अर्थात् उन गुणोंकी आसक्तिहीसे ऊंच नीच जन्म होते हैं ॥ २१ ॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥२२॥

इस देहमें यह पुरुष देखनेवाला है याने चौकसी करनेवाला है और अनुमोदन देनेवाला याने सलाह देनेवाला है और इस देहका पोषनेवाला है और भोगनेवाला है और इसका महेश्वर है जैसे कि, इस देहमें ईश्वर इंद्रिय विषय इत्यादि हैं उनका भी ईश्वर है ऐसे इस देहसे यह जीव न्यारा भी है परंतु अज्ञानसे केवल यह देह ऐसा कहाता है ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

जो ऐसे इस जीवको और गुणोंकरके सहित प्रकृतिको जानता है सो सर्व प्रकारसे संसारमें रहता है तोभी फिर नहीं उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

कितनेक पुरुष अपने अंतःकरणमें बुद्धिसे विचार करके इस जीवात्माको जानते हैं और कितनेक सांख्ययोगकरके जानते हैं और कितनेक कर्मयोग करके याने ईश्वरार्पण कर्म करते करते

जानते हैं और कितनेक और ऐसे नहीं जानते हुए दूसरोंसे सुनके उपासना करते हैं याने सुनके प्रथमसरीखे उपाय करके जानते हैं और कितनेक केवल श्रद्धायुक्त श्रवण ही करते रहते हैं तो वे भी संसारको तरते हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जितने कुछ स्थावर और जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं उनको क्षेत्रज्ञके संयोगसे याने शरीर और जीवके संयोगसे जानो ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमीश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

जो कोइ सर्व भूतोंमें सम रहे हुए केवल मन इंद्रियादिकोंके ईश्वर इस जीवको इन इंद्रियादिकोंके नाश होते हुए भी इसको नाशरहित देखता है याने जानता है सोई जानता है ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८

सर्व देवादि शरीरोंमें एकसरीखे रहे हुए इस मन इंद्रियादिकोंके ईश्वर जीवात्माको सम देखता हुआ जो कि, बुद्धिपूर्वक अपने आपको नहीं हनता है याने संसारमें नहीं गिराता है उससे वह परम गतिको याने मुक्तिको पाता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

जो सर्व कर्मोंको प्रकृति करके ही याने प्रकृति विकार इंद्रियों-करके ही करे हुए जानता ह और तैसें ही अपने आपको अकर्त्ता जानता है सो जानता है ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

जब भूतोंका पृथग्भाव याने देवमनुष्यादिक शरीरोंकी छोटाई बडाई मोटाई पतलाई इत्यादिक न्यारे न्यारे भावोंको एकस्थ याने एक प्रकृतिहीमें देखता है और उसी प्रकृतिमें पुत्रादिरूप विस्तारको देखता है तब शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे कुंतीपुत्र ! यह जीवात्मा अनादिपनसे अविनाशी है केवल शरीरमें रहा हुआ भी निर्गुणपनेसे न कुछ कर्मोंको करता है न उन कर्मफलों करके लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे सर्वत्र प्राप्त भया हुआ आकाश सूक्ष्मतासे उन भूतोंके गुणोंकरके लिप्त नहीं होता है तैसे सर्व देवादि शरीरोंमें रहा हुआ जीवात्मा देहगुणोंकरके नहीं लिप्त होता है ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे भारत ! जैसे एक सूर्य इस सर्व लोकोंको प्रकाशता है तैसे यह जीव सर्व शरीरको प्रकाशता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे प्रकृतिपुरुषविवेकयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जो कोई ज्ञानदृष्टिकरके क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ऐसे अंतरको और भूतप्रकृतिके मोक्षको जानते हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथ-
प्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां
त्रयोदशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १३ ॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं–कि, सर्व ज्ञानोंमें उत्तम प्रसिद्ध भया हुआ ज्ञान फिर कहता हूं जिसको जानके सर्व मुनिजन यहांसे श्रेष्ठ सिद्धिको याने परमपदको जाते भये ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥

जो कहता हूं इस ज्ञानको प्राप्त होके मेरी सधर्मताको याने मेरे समान रूप वैभवको वे मुनिजन प्राप्त होते हुए वे उत्पत्तिकालमें न उत्पन्न होते हैं और प्रलयमें न दुःखी होते हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे भारत ! मम महद्ब्रह्म याने मेरी प्रकृति सर्व भूतोंकी योनि याने उत्पत्तिस्थान है मैं उस प्रकृतिमें जीवरूप गर्भको धारण करता हूं तब उससे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

हे कुंतीपुत्र ! देव मनुष्यादि सर्व योनियोंमें जो देही उत्पन्न

होते हैं उन सबकी महत् ब्रह्म याने प्रकृति कारण हूं मैं चेतनरूप बीजका देनेवाला पिता हूं ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो! सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण ये प्रकृतिसे उत्पन्न गुण इस देहमें अविनाशी जीवको बंधन करते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चाऽनघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप! उन गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मलतासे प्रकाशक याने शुभाशुभ कर्मोंका दिखानेवाला रोगरहित है इससे यह सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानके संग करके बांधता है याने ज्ञानसुखसे शुभकर्म शुभकर्मसे स्वर्गादि फिर उत्तम कुलमें जन्म फिर ज्ञानसुख ऐसे बांधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे कुंतीपुत्र! तृष्णा और स्त्री धनादिमें आसक्तिका करनेवाला रजोगुण विषयादिकमें प्रीति उपजानेवाला जानो वह जीवको कर्मसंगसे बांधता है जैसे प्रीत्यात्मक कर्मसे उन कर्मसंगियोंमें जन्म फिर कर्म फिर जन्म ऐसे ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत! सर्वदेहधारी जीवोंका मोहनेवाला तमोगुण अज्ञानका कारण जानो वह प्रमाद आलस और निद्राकरके बंधन करता है ८

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

हे भारत ! सत्त्वगुण मनुष्यको सुखमें लगाता है रजोगुण कर्ममें तमोगुण ज्ञानको ढंकके फिर प्रमादमें लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे भारत !यद्यपि ये गुण प्रकृतिके हैं तोभी विपरीतताका कारण यह कि, रजोगुण और तमोगुणको जीतके सत्त्वगुण प्रबल होता है और रजोगुण सत्त्वगुणको जीतके तमोगुण प्रबल होता है तैसा ही तमोगुण सत्त्वगुणको जीतके रजोगुण प्रबल होता है यहां कारण प्राचीनकर्म और नित्य आहारादिक है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ! इस देहमें जब सर्व नेत्रादि द्वारोंमें प्रकाश याने वस्तुका यथार्थ निश्चय सोई ज्ञान उत्पन्न हो तब सत्त्वगुण बढा है ऐसा जानना और रजोगुणके बढनेसे लोभ जो धनादिक खरचे विना और मिलनेकी इच्छा प्रवृत्ति याने प्रयोजन विना चंचलता कर्मोंका आरंभ इंद्रियलोलुपता विषयइच्छा इतने उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायंत विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

हे कुरुनंदन ! तमोगुणके बढनेसे विवेककी हानि निरुद्यमता और न करनेका करना और विपरीतज्ञान इतने ये होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब सत्त्वगुणके बढते समयमें देहधारी प्रलय याने मृत्युको प्राप्त हो तब आत्मज्ञानियोंके शुद्ध लोकोंको प्राप्त होता है अर्थात् आत्मज्ञानियोंके कुलमें आत्मज्ञान जाननेयोग्य शरीरोंको प्राप्त होता है " लोकस्तु भुवने जने " इस प्रमाणसे यहाँ लोकशब्द जनवाची है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होके कर्मसंगियोंमें जन्म लेता है याने उनमें जन्म लेके सकाम कर्म करके स्वर्गको जाता है फिर उनहीमें जन्म लेके फिर कर्म करके स्वर्गमें ऐसेही फिरता रहता है तथा तमोगुणमें मरा हुआ नीचे योनिमें जन्मता है वहाँ भी वैसा ही क्रम जानना ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सुकृत कर्मका फल सात्त्विक निर्मल कहते हैं याने उसके करते २ किसी जन्ममें मुक्त होता है और रजोगुणी कर्मका फल दुःख याने उस सकामसे स्वर्ग स्वर्गसे मृत्युलोक फिर स्वर्ग ऐसे संसारदुःख ही है तमोगुणी कर्मका फल अज्ञान है याने उससे नरक ही है॥१६॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सात्त्विक कर्मसे ज्ञान होता है और राजससे लोभ ही होता है तामससे अज्ञान और मोह होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥१७॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥ १८ ॥

सात्त्विककर्म करनेवाले मुक्तिको पाते हैं राजस कर्मवाले मध्यमें (स्वर्ग मृत्यु लोकहीमें) रहते हैं जैसे पुण्यसे स्वर्ग, पुण्यक्षीण होनेसे मनुष्यलोक फिर पुण्यसे स्वर्ग ऐसे वारंवार मध्यहीमें रहते हैं तमोगुणी नीचगुणकी वृत्तिमें वर्त्तनेवाले तामसी नीचजाति पशु कीटादिकमें जन्मते रहते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जब विवेकीपुरुष सत्त्वादिगुणोंके विना और किसीको कर्त्ता नहीं जानता है और अपने आपको गुणोंसे न्यारा जानता है तब सो मेरी साम्यताको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह देहधारी जीव देहमें उत्पन्न हुए इन सत्त्वादि गुणोंको उल्लंघन करके जन्म मृत्यु और जरापनके दुःखोंकरके छूटा हुआ मोक्षको पाता है गुणयुक्त नहीं ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥

ऐसे सुनके अर्जुन पूछते हैं कि, हे प्रभो ! कौनसे चिह्नोंकरके इन तीन गुणोंको उल्लंघन कियाहुआ होता है वह कैसे आचरणवाला होता है और इन तीनों गुणोंको कैसे उल्लंघन करे ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो यो गुणैर्न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तंत इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनके भगवान् कहते हैं-कि, हे पांडुपुत्र ! जो पुरुष प्रकाश याने आरोग्यादिक सत्त्वगुणके कार्य और प्रवृत्ति याने रजोगुणके कार्य और मोह याने तमोगुणके कार्य ये जो प्रवृत्त हों तो इनको नहीं त्याग चाहता है और निवृत्त हुए इनको न चाहता है उदासीन सरीखा स्थित भया हुआ गुणोंकरके नहीं चलायमान होता है आप अपने कार्योंमें गुण ही वर्त्तमान हैं ऐसे जो स्थिर है चलायमान नहीं होता है सुख दुःखमें सम स्वस्थ ठीकरी कंकर पत्थर और सोना जिसके सम हैं तुल्य हैं प्रिय अप्रिय जिसके धीर, इसीसे अपनी निंदा स्तुति समान जानता है मान और अपमान तुल्य मित्र शत्रुपक्षमें तुल्य मेरे सेवनादिक विना सर्व-आरंभोंका त्यागी सो गुणातीत कहाता है ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च॥ २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयवि-
भागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

जिसवास्ते कि, मरणधर्मरहित और इसीसे अविनाशी जो ब्रह्म याने मुक्तजीव उसका और सनातन धर्म जो भक्तियोग उसका और मुख्य सुख जो स्वस्वरूपकी प्राप्ति उसका मैं आधार हूं इसीसे जो अखंडित भक्तियोगकरके मुझको भजता है सो इन गुणोंको उल्लंघन करके मेरी समताको प्राप्त होता है॥२६॥२७

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपण्डितरघुनाथप्रसाद-
विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां
चतुर्दशाऽध्यायप्रवाहः॥ १४॥

श्रीभगवानुवाच।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

तेरहवें अध्यायमें क्षेत्ररूप प्रकृति और क्षेत्रज्ञ पुरुष याने जीव इनका स्वरूप कहा शुद्धजीवात्माके भी प्रकृतिसंबंधी गुणोंके प्रवाहनिमित्त देवादिक आकारसे परिणामको प्राप्त हुई जो प्रकृति उसका सम्बंध अनादि कहा. चौदहवें अध्यायमें कहा कि, इस जीवको जो कार्य और कारण अवस्थाओंमें यह गुणसंगप्रवाहमूलप्रकृतिसंबंध सो भगवान्हीने किया है ऐसे कहके विस्तार-सहित गुणसंगप्रकारको कहके कहा कि, गुणसंगनिवृत्तिपूर्वक स्वस्वरूपकी प्राप्ति भगवद्भक्तिमूलक ही है. अब पंद्रहवें अध्यायमें

जो भजने योग्य भगवान् अपने कल्याण गुणादिकोंकरके बद्ध मुक्त दोनों प्रकारक जीवास विलक्षण (न्यार) उनको पुरुषोत्त-मत्व कहनेको जो यह बन्धन आकारसे विस्तरित प्रकृतिका परि-णाम विशेष संसार उसको पीपरवृक्षरूप कल्पित करके श्रीकृष्ण भगवान् बोलते भये-कि, जिसके वेद पत्ते अर्थात् जैसे पत्तोंकरके वृक्ष बढता है तैसे यह संसाररूप वृक्ष वेदोक्त कर्म करके बढता है इससे वेद पत्तारूप हैं ऊर्ध्वमूल याने सत्यलोकमें ब्रह्मा जिसका मूल है अधः शाख याने सत्यलोकसे नीचे जो देव मनुष्य कीट पतंगपर्यंत शरीर ये उसकी शाखा हैं ऐसा अव्यय याने सम्यक् ज्ञानप्राप्ति होनेसे प्रथम अज्ञानदशामें प्रवाहरूप करके छेदनेके अयोग्य इसीसे अज्ञानके अविनाशी है ऐसा इस संसारको अश्वत्थ याने पीपरवृक्षरूप श्रुति कहती है उसको जो जानता है सो वेदका जाननेवाला है अर्थात् वेद इस संसारके छेदनेका उपाय कहता है तो जो इसको जानेगा तो छेदनेका भी उपाय जानेगा इससे वह वेद जाननेवाला है ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विष-यप्रवालाः ॥ अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानु-बंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अब उस संसारवृक्षकी और भी विलक्षणता कहते हैं-जैसे कि सत्त्वादिगुणोंकरके बढी हुई और शब्दादिक विषय जिनके प्रवाल याने कोंपर याने जो नये एक दिनके निकले हुए पत्ते वैसे पत्ते जिनके विषय हैं ऐसी उस वृक्षकी शाखें नीचे मनुष्यलो-कमें और ऊपर देव गंधर्वादिलोकोंमें फैल रही हैं अर्थात् नीच-कर्मसे नीचे मनुष्योंसे भी नीच पश्वादिशरीर ऊपर उत्तमकर्मसे उत्तम देवादिशरीररूप शाखें फैल रही हैं नीचे मनुष्यलोकमें भी

उसकी कर्मानुसारी मूल फैली रही हैं अर्थात् मनुष्यलोकमें जो ऊंच नीच कर्म वही मूलरूप हैं ऊंच नीचपदवी कर्म विना नहीं कर्म मनुष्यशरीर विना नहीं होता है ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥ अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥ ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तंति भूयः ॥ तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

इस संसारवृक्षका इस लोकमें जैसा कहा है वैसा रूप अज्ञानीजनों करके नहीं जाननेमें आता है न उसका अंत और न आदि और न स्थिति जाननेमें आती है ऐसे दृढमूल इस पीपर वृक्षको अतिदृढ वैराग्यरूप शस्त्रसे छेदन करके फिर जिससे यह प्राचीन प्रवृत्ति याने गुणमय भोगरूप संसारप्रवाह विस्तारित है उसी आदि पुरुषके शरणागत होके उस पदको ढूंढना कि, जिसमें गये हुए मुनिजन फिर इस संसारमें नहीं आते हैं ॥ ३ ॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥ द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जो मानमोहकरके रहित हैं और जिनने संगदोषोंको जीता है और जो अध्यात्मशास्त्रहीमें नित्य वर्तमान हैं और जिनकी कामना निवृत्त जो सुखदुःखसंज्ञक द्वंद्वोंसे छूटे हुए हैं वे ज्ञानीजन उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं याने स्वस्वरूपको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

सूर्य उस आत्माको नहीं प्रकाश सकता है. न चंद्रमा और न अग्नि प्रकाश सकता है जिस रूपको याने शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होके नहीं संसारमें आते हैं वह मेरा परम धाम है याने मेरे रहनेका मुख्य स्थान मेरा शरीर है इस जगह "यस्यात्मा शरीरं" यह श्रुति भी प्रमाण है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

जो यह ऐसा वर्णन किया सो यह मेरा ही सनातन अंश है याने जैसे प्रकृति और अनंतजीव मेरे ही हैं उनमें यह एक मेरा ही है मेरी ही विभूति है सो यह इस जीवलोकमें जीवभूत याने अति संकुचितज्ञान भया हुआ पांच ज्ञानेंद्रिय और एक मन ऐसे मनसहित छः प्रकृतिविकार इस देहमें रही हुई इंद्रियोंको खैंचता फिरता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥ ८ ॥

जब यह जीव शरीरको प्राप्त होता है और जब वर्त्तमानशरीरसे जाता है तब यह मन इंद्रियोंका ईश्वर अपनी सेनारूप इन इंद्रियोंको पवन पुष्पादिक गंधस्थानसे गंधको जैसे वैसे ग्रहण करके जाता है ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा श्रोत्र इंद्रिय याने कान नेत्र और स्पर्शन जो

त्वचा इंद्रिय रसना जो जिह्वा और घ्राण जो नासिका और मन इनको आश्रयकरके विषयोंको सेवता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यह जो गुणोंकरके युक्त आत्मा उसको देह त्यागनेको अथवा देहमें रहते हुएको अथवा विषय भोगते हुएको भी अज्ञानी जन नहीं देखते जिनके ज्ञानदृष्टि हैं वे देखते हैं ॥ १० ॥

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम्।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥ ११ ॥

योगिजन प्रयत्न करते करते अपने अंतःकरणमें रहे हुए इस आत्माको देखते हैं और जो विषयासक्त हैं वे जो शास्त्रद्वारा उपाय करैं तो भी वे अज्ञानी इस आत्माको न देखसकें ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२

जो सूर्यमें रहा हुआ तेज सर्व जगतको प्रकाशित कर रहा है और जो तेज चंद्रमामें और जो अग्निमें है उस तेजको मेरा ही तेज जानो ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३

मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होके अपने अचिंत्य सामर्थ्यकरके सर्व भूतोंको धारण करता हूं और अमृतमय चंद्र होके सर्व औषधियोंको पालता हूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

मैं जठराग्नि होके सर्व प्राणियोंके देहमें रहा हुआ प्राण और अपान संयुक्त भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय ऐसे चार प्रकारके अन्नको पचांता हूं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥ वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं सर्वके हृदयमें प्रविष्ट हूं और सबके स्मृति ज्ञान और विचार मुझसे होते हैं और सर्व वेदोंकरके ही जानने योग्य हूं और वेदांतका कर्ता और वेदका जाननेवाला मैं ही हूं ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

इस लोकमें क्षर और अक्षर ऐसे ये दोप्रकारके पुरुष हैं उनमें सर्व शरीरधारी भूत प्राणी क्षर और मुक्त जीव अक्षर कहाता है इन दोनोंसे उत्तम पुरुष और है जो परमात्मा ऐसे कहाता है जो अविनाशी ईश्वर त्रिलोकीमें प्रवेश करके सर्व त्रिलोकीका भरण पोषण करता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

जिसवास्ते कि मैं बद्धावस्थ जीवसे श्रेष्ठ और मुक्तसे भी उत्तम हूं इससे स्मृति और वेदमें भी पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे भारत! जो सम्यक्‌ज्ञानी पुरुष ऐसे मुझको पुरुषोत्तम जानता है सो सर्वज्ञता है इसीसे वह सर्वभाव याने माता पिता सुहृद् धनादिक मुझको जानके मुझहीको भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुराणपुरुषो-
त्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

हे निष्पाप! ऐसे यह अतिगोप्य शास्त्र मैंने कहा हे भारत! इसको जानके बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है ॥ २० ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथप्रसाद-
विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां
पंचदशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १५ ॥

ऐसे तेरहवें अध्यायसे पंद्रहवेंकी समाप्तिपर्यन्त क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेक और गुणत्रयका विभाग और क्षराक्षर याने बद्ध मुक्त जीवोंका स्वरूप तथा परमात्माका पुरुषोत्तमत्व और सामर्थ्य कहते भये अब सोलहवें अध्यायमें जीवकी शास्त्रवश्यता और दैवासुरसम्पत्तिविभाग कहेंगे ॥

श्रीभगवानुवाच।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं-कि, हे भारत ! दैवी संपदाको प्राप्त हुए मनुष्यको निर्भय रहना अंतःकरणकी शुद्धि प्रकृतिसे भिन्न आत्मा है ऐसी निष्ठा सुपात्रको कुछ देना और मनको विषयोंसे निवृत्त करना और निष्कामतासे भगवानके पूजनरूप पंचमहायज्ञोंका करना वेदमन्त्रादिकोंका जप एकादशी व्रतादिरूप तप सबसे सरल रहना जीवमात्रको पीडा न देना हित और यथार्थ भाषण क्रोधका न करना उदारता शांति याने इंद्रियोंको वश करना चुगली न करना भूतप्राणिमात्रपर दया परस्त्री धनादि पर इच्छा न करना अक्रूरता लज्जा व्यर्थ कामको न करना तेज क्षमा याने सहनशीलता धीरज पवित्रता द्रोहका न करना मान प्राप्तिके वास्ते अति मानका न करना ये २६ गुण होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

हे पृथापुत्र ! आसुरी संपदाको प्राप्त हुए मनुष्यके दंभ दर्प और अभिमान क्रोध और कटु भाषण और अज्ञान ये लक्षण होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

हे पांडुपुत्र ! दैवी संपदा मोक्षके वास्ते है आसुरी बन्धनके वास्ते निश्चय की गयी है तुम दैवी संपदाको प्राप्त हुए हो मत शोचो ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! इस लोकमें दो प्रकारके प्राणी हैं एक दैव और दूसरे आसुर दैव विस्तारसे कहा आसुरको सुनो ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नाऽपि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

असुर स्वभाववाले मनुष्य संसार साधन और मोक्ष साधन भी नहीं जानते हैं उनमें न शुचिता और न शास्त्रीय आचरण न सत्य भी रहता है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे असुरप्रकृति मनुष्य इस जगत्को कोई तो असत्य याने मिथ्या और भ्रम कहते हैं कोई अप्रतिष्ठ याने इसका कोई आधार नहीं ऐसा कहते हैं कोई अनीश्वर कहते हैं स्त्रीपुरुषके परस्पर संयोगसे हुए विना और जगत् क्या है केवल कामहीके निमित्तसे याने स्त्रीपुरुषके संयोगहीसे होता है ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

वे अज्ञानी जन खानपानादिक अल्पपदार्थमें बुद्धिवाले ऐसी समुझको ग्रहण करके उग्र कर्म करनेवाले याने परस्त्री धन पुत्रादिकोंके हरण करनेवाले सबके अहित जगत्के नाशके वास्ते प्रवृत्त होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

जो दुःखसे भी न पूरी होय ऐसी कामनाको आश्रित होके दंभ मान और मदयुक्त भये हुए मोहसे असद्ग्राहोंको ग्रहण करके याने

मारण मोहन वशीकरणके उपाय करना ऐसे भ्रष्ट आचरण स्वीकार करके अपवित्र व्रत भूतादि सेवनेवाले भये हुए उनही कामोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

अपार और मरणांत चिंताको प्राप्त भये हुए कामोपभोगमें तत्पर इतनां ही सुख है ऐसें निश्चय किये हुए ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैंकडों आशाकी फांसियोंकरके बँधे हुए काम और कोपके स्वाधीन हुए कामभोगके वास्ते अन्यायकरके द्रव्यसंचयका उपाय करते रहते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

मैंने आज यह पाया इस मनोरथको पाऊंगा मेरे यह धन है फिर यह भी होगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

मैंने यह वैरी मारा और औरको भी मारूंगा मैं ईश्वर हूं मैं भोगी हूं मैं सिद्ध हूं मैं बलवान् हूं मैं सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

मैं योग्य हूं उत्तम कुलमें जन्मा हूं मेरे समान और कौन है

यज्ञ करूंगा दान दूंगा आनंद करूंगा ऐसे अज्ञानमें मोहे रहते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेक जगह चित्त लगनेसे भ्रमिष्ठ मोहके जालमें फंसे हुए कामभोगमें आसक्त वे अपवित्र नरकमें पडते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाऽविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

जो आपको आप ही श्रेष्ठ मान रहे हैं और अनम्र हैं धन मान मदयुक्त हैं वे दंभसे अविधिपूर्वक नाममात्र यज्ञोंकरके यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार बल हर्ष काम और क्रोधका आश्रय कर रहे हैं ऐसे वे अपने और औरोंके देहोंमें रहे हुए मुझसे द्वेष करते हुए मेरी निंदा करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

मैं उन द्वेष करनेवाले क्रूर अशुभ नराधमोंको संसारमें आसुरी ही योनियोंमें वारंवार पटकता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनिजन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे कुंतीपुत्र ! वे मूर्ख जन्मजन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त भये हुए मुझको न प्राप्त होके फिर अधमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

कामना, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारका नरकका द्वार अपना नाशनेवाला है याने संसारमें भ्रमानेवाला है इससे इन तीनोंको त्यागना ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे कुंतीपुत्र! इन तीनों नरकद्वारोंकरके छूटा हुआ मनुष्य अपने कल्याणका साधन करता है उससे परमपदको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो शास्त्रविधिको त्यागके स्वइच्छाप्रमाण चलता है सो न सिद्धिको पाता है न सुखको न मोक्षको पाता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इससे तुमको कार्याकार्यव्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण जानके इस लोकमें शास्त्रविधानोक्त कर्म करना योग्य है ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपंडितरघुनाथ-
प्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृतत-
रंगिण्यां षोडशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १६ ॥

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

सोलहवें अध्यायमें ईश्वरतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरप्राप्तिका उपाय इनके कारण मूल वेदही हैं ऐसे कहा और अंतमें कहा कि, शास्त्रविधिहीन कर्म करनेवालेको सुखादिक नहीं सो सुनके अर्जुन बोले-कि, हे कृष्ण ! जो शास्त्रविधिको त्यागके श्रद्धाकरके युक्त यजन करते हैं उनकी क्या निष्ठा है सत्त्वगुण है किंवा रजोगुण तमोगुण हैं ॥ १ ॥

त्रिविधा भवंति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

अर्जुनका प्रश्न सुनके श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं-कि, सात्विकी और राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकारकी निश्चय श्रद्धा होती है सो देहधारियोंकी स्वभावहीसे होती है उसको सुनो ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अंतःकरणके अनुरूप होती है यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धावाला होता है सो वही होता है जैसे सात्विकी श्रद्धावाला सात्विक इत्यादि ॥ ३ ॥

यजंते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते हैं राजसी यक्षराक्षसोंको और अन्य तामसी जन प्रेत भूतगणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवांतः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दंभ और अहंकार संयुक्त कामना और विषयानुराग इनहीकी सेनासेयुक्त वे मनुष्य अशास्त्रविहित याने जा शास्त्रप्रसिद्ध नहीं ऐसे घोर तपको तपते हैं वे अज्ञानी जन शरीरमें रहेहुए भूतसमूहको और अंदर शरीरमें स्थित मुझकोभी दुःख देते हैं उनको आसुर निश्चय याने असुरपनमें निश्चय जिनका ऐसे उनको जानो॥५॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सर्वका तीन प्रकारका प्रिय होता है और यज्ञ तथा तप दान ये भी तीन प्रकारके हैं इनका भेद यह सुनो ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः

जो आहार आयु॰१ होशियारी बल आरोग्य सुख और प्रीतिके बढानेवाले हों मधुरादिरसयुक्त स्निग्ध स्थिर याने बहुतकाल रहनेवाले हृदयके वर्द्धक ऐसे आहार सात्त्विक जनोंको प्रिय होते हैं८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

अतिकटु जैसे बहुत मिर्चवाला पदार्थ अतिखट्टा अतिलोनवाला बडा वगैरे अति गरमागरम अतितीक्ष्ण राई वगैरे मिश्रित अति रूखे और दाहकारक राजसियोंके प्रिय आहार दुःख शोक और रोगोंके देनेवाले होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

जिस भात वगैरेको एक पहर बीता हो वह ठंढा पदार्थ रसविहीन दुर्गंधवाला और बासी और उच्छिष्ट भी ऐसा अपवित्र भोजन तामसियोंको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

यज्ञ करनाही योग्य है ऐसे मनको समाधान करके फलइच्छारहित मनुष्योंने विधिपूर्वक जो यज्ञ किया हो सो यज्ञ सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फलकी इच्छाकरके और दंभके वास्ते भी यज्ञ करे उस यज्ञको राजस जानो ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

जो यज्ञ विधिहीन उचित अन्नहीन मंत्रहीन दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ तामस कहा है ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

देव ब्राह्मण गुरु और विद्वानोंका पूजन शुचिता सरलता ब्रह्मचर्य और परपीडावर्जन यह शरीरसंबंधी तप कहा है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

जो वचन उद्वेगकारक न हो और सत्य प्रिय हित हो और वेद पाठ मंत्रजपादिकोंका अभ्यास यह वाणीमय तप कहा है॥१५॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता सदयपना याने क्रूर न होना मितभाषण मनको वश करना और अंतःकरणकी शुद्धता यह इतना तप मानस कहाता है॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

फलकी इच्छा न करनेवाले योग्य पुरुष इनकरके परम श्रद्धा-करके तपा हुआ सो तीनों प्रकारका याने मानस,कायिक,वाचिक तप सात्विक कहा है॥ १७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८ ॥

जो तप सत्कार मान और पूजाके वास्ते और दंभ करके भी किया जाता है सो यहां शास्त्रमें राजस चल और नाशवान् कहा है॥ १८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९ ॥

जो तप दुराग्रह करके अपनी पीडाके निमित्त अथवा दूसरेके बिगारके वास्ते किया हो सो तामस कहा है॥ १९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

जो दान देना ही चाहिये ऐसी बुद्धिकरके कुरुक्षेत्रादि देशमें

और ग्रहणादिक कालमें जिससे फिर कुछ अपना उपकार न हो ऐसेको तथा वह पात्र याने तपस्वाध्यायकरके रक्षक हो उसको दियाजाय सो दान सात्विक कहा है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

जो प्रत्युपकारके वास्ते अथवा फलके निमित्तकरके फिर भी राहु वगैरे ग्रहनिमित्त उग्रदान दिया जाय सो राजस कहा है॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान तिरस्कार अवज्ञापूर्वक देश काल विना और कुपात्रोंको दिया जाता है सो दान तामस कहा है ॥ २२ ॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३॥

ओं तत् सत् ऐसे तीन प्रकारका वेदका निश्चय जाना गया है " याने ओंशब्दसे कर्मका स्वीकार करना उचित है तत् शब्दसे तदर्थ याने परमेश्वरार्थ करना उचित है सत्से श्रेष्ठकर्म साधुवृत्तिसे करना ऐसा वेदका निश्चय" उसी निश्चयकरके युक्त ब्राह्मण याने वेदकर्म करनेवाले तीनों वर्ण कर्मस्वीकारार्थ और वेद जो ईश्वरार्थ कर्मको प्रतिपादन करते हैं और यज्ञ दान जो सत्कर्म ये मैंने पूर्वकालमें स्थापित किये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

जिससे कि वेदवादी तीनों वर्ण कर्म स्वीकारार्थ हैं इससे ओं ऐसे कहके याने कर्म स्वीकार करके वेदवादी तीनों वर्णोंकी विधिसे कही हुई यज्ञ दान तपकी क्रियायें निरंतर प्रवृत्त होती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

तत् याने कर्म तदर्थ ह याने परमेश्वरार्थ है ऐसी बुद्धिस फलं-कर अनुसंधान नहीं करके यज्ञ, दान, तप, क्रिया और अनेक प्रकारकी दानक्रिया मोक्षके चाहनेवालों करके की जाती हैं॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६॥

हे अर्जुन ! श्रेष्ठपनेमें और साधुभावमें सत् ऐसा यह वाक्य युक्त करते हैं तथा श्रेष्ठ कर्ममें भी सत्शब्द युक्त करते हैं ॥ २६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥ २७ ॥

जो यज्ञमें, तपमें और दानमें स्थिति है सो सत् ऐसे कहाती है और जो ईश्वरार्थ कर्म है सो सत् निश्चय है ऐसे कहते हैं इन चारों श्लोकोंमें ॐ तत् सत् इनका खुलासा किया है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ नच तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

हे पृथापुत्र ! जो श्रद्धा विना होमा हुआ हवन दिया दान तपा हुआ तप और किया हुआ कर्म है सो असत् ऐसा कहाता है सो न परलोकमें न इस लोकमें सुखदायक है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपण्डितरघुनाथप्रसादविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्यां सप्तदशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अब इस अठारहवें अध्यायमें सर्व गीताका सारांश निरूपण होगा; तहां अर्जुन प्रश्न करते हैं-कि,हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यासका और त्यागका तत्त्व न्यारान्यारा जाननेको चाहता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

ऐसा अर्जुनका प्रश्न सुनिके श्रीकृष्ण भगवान् बोलते हुए-कि, कवि जो सारासार विवेकी वे कामनावाले कर्मोंके छोडनेको संन्यास जानते हैं और विचक्षण जो तत्त्वज्ञानी हैं वे सर्व कर्मोंके फलत्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कोई एक ज्ञानीपुरुष दोषवाला कर्म त्यागना चाहिये ऐसे कहते हैं और कितनेक और आचार्य यज्ञ, दान, तप, कर्म नहीं त्यागना चाहिये ऐसे कहते हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

हे भरतसत्तम ! उस त्यागमें मेरा निश्चय सुनो, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ !

जिससे कि, त्याग तीन प्रकारका कहा है इसीसे यज्ञ, दान, तप-रूप कर्म, नहीं त्यागना, करना ही योग्य है यज्ञ, दान और तप ये ज्ञानियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! ये यज्ञादिक भी कर्म ममता और फलोंको त्यागके करनेयोग्य हैं ऐसा निश्चय कियाहुआ मेरा उत्तम मत है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

कारण कि, जो नियमित संध्यादि पंचमहायज्ञादिक हैं उस कर्मका त्याग नहीं हो सकता है जो मोहसे उसका त्याग किया सो तामस कहाता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

जो, कर्म दुःख ऐसे शरीरक्लेशके भयसे ही त्यागे सो राजस त्यागको करके त्यागफलको नहीं पाता है ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ९

हे अर्जुन ! जो कर्म करनेयोग्य ऐसी बुद्धिसे ममता और फलको त्यागिके नियमित याने उचित ऐसी ही बुद्धिसे करे सो त्याग सात्विक जाना है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

जो सत्त्वगुणयुक्त बुद्धिमान्; संशयरहित कर्मफलत्यागी है सो अकुशलको याने संसारकारक कर्मको न निंदता है न कुशल याने यज्ञादिकं उनमें आसक्त होता है ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

जिसवास्ते कि, देहधारीकरके सर्व कर्म त्यागनेको नहीं हो सकता है इससे जो कर्मफलका त्यागी है सो" त्यागी ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अप्रिय, प्रिय और मिश्रित ऐसे; कर्मका तीन प्रकारका फल कर्मफलानुरागियोंको मरेपरं होता है और" कर्मफलत्यागियोंको कहीं भी नहीं ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे महाबाहो ! सर्वकर्मोंकी सिद्धिके वास्ते ये पांच कारण सांख्यसिद्धांतमें कहे भये मेरेसे" सुनो ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं" चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

वे ये कि, अधिष्ठान याने आधार अर्थात् शरीर तथा कर्त्ता याने जीव इस जीवके कर्त्तापनमें "ज्ञात एव" कर्त्ता "शास्त्रार्थत्वात्" यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है और न्यारे न्यारे प्रकारके करण याने मनसहित पंच इंद्रियोंके व्यापार और अनेक प्रकारकी न्यारी न्यारी चेष्टा याने पांच प्राणवायुओंकी चेष्टा और ' यहां पांचवां दैव याने

अंतर्यामी अर्थात् मैं हूं इस विषयमें "पराचु तच्छ्रुतेः" यह ब्रह्मसूत्र भी प्रमाण है यहां शंकासमाधान वाक्यार्थबोधिनीमें किया है॥ १४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतेऽर्जुन ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५॥

हे अर्जुन! शरीर वाणी और मन करके जो न्याय अथवा अन्याय जो कर्म प्रारंभ करा जाता है उसके ये पांच कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

ऐसे सिद्धांत होनेपर भी तहां जो केवल आत्माको कर्त्ता जानता है सो दुर्बुद्धिपुरुष अकृतबुद्धित्वसे याने यथार्थनिश्चय कारक बुद्धिहीन है इससे नहीं जानता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते॥ १७॥

जिसके अपने कर्त्तापनेका भाव नहीं है जिसकी बुद्धि कर्ममें नहीं लिप्त होती है सो इन लोकोंको मारके भी न मारता है न पापमें बँधता है तात्पर्य कि, तुम भीष्मादिक वधसे डरते हो तहां जो मनुष्य ममता अहंतारहित होके स्वधर्माचरण करता है उसको उस कर्मजन्य पापपुण्यका भय नहीं ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान जो कर्त्तव्यकर्मका जानना ज्ञेय जो वह कर्म परिज्ञाता उसके सम्यक् जाननेवाले ऐसे तीन प्रकारका शास्त्रविधान है तहां करण जो कर्म करनेकी साधनसामग्री जैसे यज्ञमें स्रुवादिक युद्धमें शस्त्रादिक कर्म जो करना हो कर्ता करनेवाला ऐसें तीन

प्रकारका कर्मके वास्ते संग्रह है अर्थात् इनहीसे होसकेगा इनविना नहीं ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्तेति त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान कर्म और कर्त्ता ऐसे ये गुणभेदकरके सांख्यशास्त्रमें तीन प्रकारहीके कहे हैं उनको भी यथावत् सुनो ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

जिस ज्ञानकरके ब्राह्मण क्षत्रियादि विभागयुक्त सर्वभूतोंमें विभागरहित याने आत्मा सर्वमें समान है ऐसा अविनाशी एक भावको देखता हूं उस ज्ञानको सात्त्विक जानना ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

और जो सर्व भूतोंमें अनेक ब्राह्मणादिक छोटे बडे उत्तम मध्यम भेदयुक्त आत्माओंको भी उत्तम मध्यम न्यारे न्यारे जानता है ऐसा न्यारेपनेकरके जो ज्ञान ह उस ज्ञानको राजस जानो ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो कि एक ही कर्ममें सक्त याने आसक्त सर्वफलयुक्त जाने और वह निरर्थ हो कारण कि, जिसमें तत्त्वार्थ नहीं और तुच्छ याने भूतादि आराधनरूप ज्ञान सो तामस कहा है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

जो कर्म फलकी इच्छा न करनेवालेने नियत याने कर्त्तव्यफला-संगरहित और राग द्वेष विना किया हो सो सात्त्विक कहा है॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जो बहुत परिश्रमयुक्त कर्म कामनाकी प्राप्ति इच्छाकरके अथवा फिर अहंकारसहित किया हो सो राजस कहा है ॥ २४ ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

कर्मके परिणामका दुःख द्रव्यादिकका क्षय उस कर्ममें प्राणि-पीडा और अपने पुरुषार्थको न देखके मोहसे जो कर्म आरंभ किया जाता है सो'' तामस कहाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते२६

जो पुरुष कर्मफलासक्तिरहित मैं कर्त्ता हूं ऐसे न कहनेवाला धीरज और उत्साहयुक्त सिद्धि और असिद्धिमें निर्विकार हो सो कर्त्ता सात्विक कहाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

जो कर्ममें आसक्त कर्मफलके चाहनेवाला लोभी याने कर्ममें यथार्थ खर्चका न करनेवाला प्राणिपीडा करनेवाला अपवित्र हर्ष-शोकयुक्त सो कर्त्ता राजस कहा है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८॥

जो शास्त्रोक्त कर्मके अयोग्य विद्याहीन अनम्र मारणादिकर्म

तत्पर ठग आलसी विषाद करनेवाला और घड़ीके काममें एक दिन बितानेवाला सो कर्त्ता तामस कहाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनंजय ! संपूर्णपनेकरके मेरा कहा हुआ न्यारा न्यारा गुणोंकरके तीन प्रकारका बुद्धिका और धीरजका भेद सुनो ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३०

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्तिको और निवृत्तिको कार्य अकार्यको और भय अभयको बंधको और मोक्षको जानती है सो सात्त्विकी॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पृथापुत्र ! जिस बुद्धिकरके धर्मको और अधर्मको तैसे कार्यको और अकार्यको भी उलटा जाने सो बुद्धि राजसी॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

हे पार्थ ! जो बुद्धि अज्ञानकरके ढकी हुई अधर्मको धर्म ऐसा माने और सर्व अर्थोंको उलटे माने सो तामसी ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी३३॥

हे पार्थ ! जिस अखंडमोक्षसाधनरूप धारणाकरके योगबलसे मन प्राण और इंद्रियोंकी क्रियोंको धारण करे सो धारणा सात्त्विकी ३३

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयते नरः ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे पार्थ ! फलकी इच्छा करनेवाला पुरुष फलइच्छाप्रसंगसे धारणाकरके धर्म अर्थकामोंको धारण करे सो धारणा राजसी ३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥

दुष्टबुद्धि पुरुष जिस धारणाकरके स्वप्न भय शोक विषाद और मद इनको नहीं त्यागता है सो धारणा तामसी मानते हैं ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुख भी तीन प्रकारका मुझसे सुनो सो ऐसे कि, जिस सुखमें अभ्यास करनेसे मन रमता है और दुःखका नाश होता है जो उसके प्रथम विषतुल्य अंतमें अमृततुल्य सुख वह आत्मबुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न सुख सात्त्विक कहा है॥३६॥३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८॥

जो विषयेंद्रियके संयोगसे प्रारंभमें अमृततुल्य अंतमें विष-तुल्य सो सुख राजस कहा है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो प्रारंभमें और अंतमें भी अपना मोहक सो निद्रा आलस और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा है ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

जो वस्तु प्रकृति से उत्पन्न इन सत्त्वादि तीन गुणोंकरके मुक्त हो सो पृथिवीमें वा स्वर्गमें वा फिर वहांही देवनमें नहीं है ॥४०

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

हे परंतप ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके और शूद्रोंके स्वभावसे उत्पन्न गुणोंकरके कर्म न्यारेन्यारे किये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

शम जो बाह्यइंद्रियोंका संयम दम अंतःकरणका संयम तप शास्त्रोक्त व्रतादिक शौच बाह्य और आभ्यंतर क्षमा और सरलता ज्ञान स्वस्वरूप परस्वरूपका जानना विज्ञान जो स्वरूपज्ञान हुए पर ईश्वरभक्ति करना आस्तिक्यं जो वेदशास्त्रवाक्योंमें विश्वास ये ब्राह्मणके कर्म स्वभावसे ही हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

शूरपना तेज याने जिससे दूसरे डरें धीरज चतुराई और युद्धमें भागना नहीं उदारता और प्रजाको स्वाधीन रखना यह क्षत्रियका कर्म स्वभावज है ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४॥

खेती गाई पालना वणिज करना यह वैश्यकर्म स्वभावसे हैं तीनों वर्णकी सेवारूप कर्म शूद्रका स्वभावसे है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥४५॥

ऐसे आपआपके कर्ममें तत्पर भया हुआ मनुष्य सिद्धिको याने मोक्षको प्राप्त होता है स्वकर्मनिष्ठ पुरुष जैसे मुक्तिको पाता है सो सुनो ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥४६

जिस ईश्वरसे भूत प्राणियोंकी उत्पत्ति रक्षण है जिसकरके यह सर्व व्याप्त है उस ईश्वरको आपके स्वभावज कर्मकरके पूजके मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

अतिउत्तम परधर्मसे अपना धर्म गुणहीन भी कल्याणकारक है. अपने जातिविहित कर्म करता हुआ पापको नहीं प्राप्त होता है. तात्पर्य तुम्हारा हिंसात्मक भी धर्म है तो भी तुम्हारा कल्याण उसीसे है ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे कुंतीपुत्र! दोषयुक्त भी अपने वर्णोचित धर्मको न त्यागना क्योंकि सर्वज्ञानकर्मादिक आरंभ दोषकरके धूंवाकरके अग्नि ऐसे युक्त हैं ॥ ४८ ॥

असंक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सर्व कर्मोंमें बुद्धिको आसक्त न करना मनको वश किये हुए

वांछारहित पुरुष परमं नैष्कर्म्यसिद्धिको याने आत्मज्ञानको फल-त्यागकरके प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५० ॥

हे कुंतीपुत्र ! उस आत्मज्ञानको प्राप्त भया हुआ जैसे ब्रह्मको प्राप्त होता है वैसे संक्षेपकरके मुझसे सुनो जो ध्यानात्मज्ञानकी परम निष्ठा है याने उपायकी सीमा है ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३॥

सो जैसे कि, शुद्धबुद्धिकरके युक्त और धारणासे मनको वश करके शब्दादिक विषयोंको त्यागके और रागद्वेषोंको त्यागके एकांत बैठा हुआ अल्पाहारी शरीर वाणी और मनको वश किये हुए नित्य ध्यानयोगपरायण वैराग्यको धारण किये हुए अहंकार बल दर्प काम क्रोध ममता इन सबको त्यागके निर्मम शांत ऐसा पुरुष आत्मज्ञानमय होता है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

ऐसे आत्मज्ञानमय भया हुआ प्रसन्नमनयुक्त न कोई वस्तु मेरे सिवाय जो खो गयी तो उसको न सोचता है न चाहता है सर्व भूतोंमें समदृष्टि भया हुआ अतिउत्तम मेरी भक्तिको प्राप्त होता है

याने सर्व जगत्को मेरे शरीरभूत मेरी परम विभूति जानके पक्षपातरहित सर्वमें मुझहीको देखता हुआ मेरा ही स्मरण मनमें करता है कि, ये सब मेरे स्वामीके हैं यही परमभक्ति है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

मैं जितना और जो हूँ उतना और वैसा मुझको भक्तिकरके निश्चयपूर्वक जानता है फिर मुझको निश्चयपूर्वक जानके मुझहीको उसपीछे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

मेरा आश्रित जन सर्व लौकिक वैदिक कर्मोंको भी सदा करता हुआ मेरे अनुग्रहसे सनातन नाशरहित पदको प्राप्त होता है।५६।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

मेरे परायण भये हुए चित्तकरके सर्व कर्मोंको मुझमें स्थापित करके याने मेरे अर्पण करके ज्ञानयोगका आश्रय करके निरंतर मुझमें चित्तको लगाये हुए स्थित रहो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे अनुग्रहसे सर्व संसारदुःखोंको तरोगे जो कदाचित् तुम अहंकारसे मेरा उपदेश न सुनोगे तो नष्ट होगे ५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैवं व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

जो अहंकारका आश्रय करके न युद्ध करूंगा ऐसे मानोगे सो

भी तुम्हारा निश्चय वृथा होगा क्योंकि तुमको तुम्हारा जातिस्वभाव ही युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।६०॥

हे कुंतीपुत्र! जो युद्ध मोहसे करनेको नहीं चाहतेहो सो अपने क्षत्रियस्वभावजन्य अपने कर्मकरके बंधे हुए परवश हुए भी करोगे ६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे अर्जुन! ईश्वर अपनी मायाकरके यंत्र जो शरीर उनमें रहे हुए सर्व भूतोंको भ्रमाता हुआ सर्व भूतोंके हृदयस्थलमें स्थित है ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्६२॥

हे भारत! सर्व भावना करके उसी परमात्माके शरण हो उसीके अनुग्रहसे परम शांति और सनातन स्थानको प्राप्त होवोगे॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

मैंने यह गोप्यसे भी गोप्य ज्ञान तुमको कहा इसको अच्छी तरहसे विचारके जैसा चाहो वैसा करो ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

सर्वगोप्यमें भी अतिगोप्य मेरा परम वाक्य फिर सुनो मेरे अतिदृढ प्रिय हो तिससे तुमको यह हित उपदेश करता हूं॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥

मुझमें मनको लगावो मेरे भक्त हो मेरा पूजन करनेवाले हो मुझको नमन करो मुझकोही प्राप्त होगे तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूं क्योंकि मेरे प्रिय हो ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥

हे अर्जुन! तुम सर्व धर्मोंको परित्यागके याने सर्व धर्मोंके फलको त्यागके अर्थात् "यत्करोषि यदश्नासि" इत्यारभ्य "तत्कुरुष्व मदर्पणम्" इस रीतिसे मेरे अर्पण करके मुख्य मेरे शरण प्राप्त हो अर्थात् "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः" इस प्रमाणसे मुझको पूज्य और मझको प्राप्य जानके मेरी आज्ञा करो याने मेरा पूजन जानके स्वधर्मरूप युद्ध करो मैं तुमको इन भीष्मादिकोंको युद्धमें मारने इत्यादिक सर्व पापोंसे मुक्त करूंगा तुम मत शोच करो. यहां इस श्लोकमें कोई विदूषण अर्थ करते हैं कि, चातुर्मास्ययाग श्राद्ध पितृतर्पण इत्यादि कर्मरूप धर्मोंको त्यागके मेरे शरण हो याने मुझको और आपको एकही जानो इस एकताज्ञानरूप भक्ति करो तब विचारना चाहिये कि, प्रथम तो "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः" इत्यादि प्रमाणसे जीवब्रह्मकी स्वरूप एकता नहीं हो सकती है मुक्त होनेपर भी "मम साधर्म्यमागताः" और "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च" तथा "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिक गीता ब्रह्मसूत्र और श्रुति प्रमाणसे भी भोगादिकमें समता होती है एकता नहीं जहां एकता भी कही है तहां अंतर्यामीभावसे अथवा "द्वा सुपर्णा" इत्यादि श्रुतिप्रमाण सखापनसे कही है दूसरे 'भज सेवायाम्' धातुका भक्तिशब्द होता है भक्ति याने सेवा सो भी एकतामें बननेकी नहीं इससे जीवपरमात्मासे न्यारे परमात्माके स्वाधीन

हैं यह सिद्ध हुआ तब जो अर्थ किया कि, मेरी और आपकी एकतारूप भक्ति करो सो यह अर्थ तो सिद्ध हुआ नहीं. अब जो धर्मको त्यागनेका अर्थ किया वहां "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"। "श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः"। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" इत्यादि वाक्योंमें विरोध आता है इस वास्ते सर्व धर्मोंका फल त्यागके निष्काम और ईश्वरपूजनरूप जानके करना यही सिद्ध होता है. यहां इसी अध्यायमें प्रमाण हैं " निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः " यहांसे लेके " संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते" इत्यादि और भी कहे हैं. ग्रंथ बढनेके भयसे नहीं लिखते हैं सुज्ञजन इतनेहीमें समुझके धर्माचरण करेंगे ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाऽभक्ताय कदाचन।
नचाऽशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७॥

हे अर्जुन! जिसने तप न किया हो तथा मेरा और मेरे जनोंका भक्त न हो और जो उपदेष्टाकी सेवा न करे और जो मेरी निंदा करे उसको तुम यह कभी न कहना ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८॥

जो इस परम गोप्य गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें प्रसिद्ध करेगा वह मेरी परम भक्ति करके मुझेहीको प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं ६८

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९॥

उस गीताको भक्तोंमें प्रसिद्ध करनेवालेसे अधिक मेरा प्रिय-कारक पृथिवीमें दूसरा मनुष्योंमें न है और न उसकी बराबर और मुझको प्रिय होगा ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

जो मेरे तुम्हारे इस धर्मवर्द्धक संवादरूप गीताका अध्ययन करेगा उस करके मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊंगा ऐसा मैं मानता हूं ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१

जो निंदारहित और श्रद्धायुक्त श्रवण भी करेगा सो भी संसारसे मुक्त होके पुण्यकर्म करनेवालोंके सुखद लोकोंको प्राप्त होगा ७१

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

भगवान् पूछते हैं-कि, हे पृथापुत्र धनंजय ! इस ज्ञानको तुमने एकाग्रचित्तसे सुना कि नहीं जो सुना तो अज्ञानजन्य मोह तुम्हारा नष्ट हुआ कि नहीं सो कहो ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

श्रीकृष्णके वचन सुनके अर्जुन कहते हैं-कि, हे अच्युत ! तुम्हारे अनुग्रहसे मोह नष्ट हुआ और मैंने ज्ञान प्राप्त किया अब संदेहरहित स्थित हो आपका वचन जो स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा सो करूंगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं-कि, हे राजन्! ऐसा यह श्रीकृष्ण और महात्मा अर्जुनका अतिअद्भुत रोमांचकारक संवाद मैं सुनता हुआ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

मैं यह अतिगोप्य साक्षात् स्वयं कहते हुए योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे वेदव्यासजीके अनुग्रहसे सुनता हुआ ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन्! इस श्रीकृष्ण और अर्जुनके अद्भुत पुण्यदायक संवादको सुमिर सुमिरके वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७

हे राजन्! उस अद्भुत भगवान्के रूपको भी सुमिर सुमिरके मेरे बड़ा विस्मय होता है और वारंवार हर्षित होता हूं ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

हे राजन् ! जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहां अर्जुन धनुषधारी तहांही अचल संपदा अचल विजय अचल वैभव और अचल नीति है यह मेरो निश्चय मत है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमत्सुकुलसीतारामात्मजपण्डितरघुनाथप्रसाद-
विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतामृततरंगिण्या-
मष्टादशाऽध्यायप्रवाहः ॥ १८ ॥

अंबराब्ध्यंकभूसंख्ये विक्रमार्कस्य संवति ।
माघमासे दले शुभ्रे द्वितीयायां तिथौ बुधे ॥ १ ॥
इयं संपूर्णतां याता गीताऽमृततरंगिणी ।
श्रीमद्भागवताचार्यानुग्रहात्स गुरुर्मम ॥ २ ॥

समाप्तोऽयं ग्रंथः ।